॥ श्रीहरिः ॥

ज्ञानयोगका तत्त्व

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ज्ञानयोगका तत्त्व

सत्सङ्ग और महात्माओंका प्रभाव

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज 'सत्सङ्ग' का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

'सत्सङ्गके बिना हरि-कथा नहीं मिलती, हरि-कथाके बिना मोहका नाश नहीं होता और मोहका नाश हुए बिना भगवान्‌में दृढ़ प्रेम नहीं होता।'

साधारण प्रेम प्राप्त होनेके तो और भी बहुत-से उपाय हैं, पर दृढ़ प्रेम मोह रहते नहीं होता और दृढ़ प्रेमके बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। भगवान् मिलते ही हैं प्रेमसे। रामचरितमानसके बालकाण्डमें देवताओंके प्रति भगवान् श्रीशिवजीके वचन हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

'हरि सब जगह समान भावसे व्याप्त हैं और वे प्रेमसे प्रकट होते हैं।' इससे सिद्ध होता है कि भगवान् प्रेमसे मिलते हैं और प्रेम प्राप्त होता है सत्सङ्गसे। इसलिये मनुष्यको सत्सङ्गके लिये विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये। सत्पुरुषोंका सेवन न मिले तो स्वाध्याय करना चाहिये। सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय भी सत्सङ्गके समान है।

सत्सङ्गके चार प्रकार हैं। पहले नंबरके सत्सङ्गका अर्थ समझना चाहिये—सत्-परमात्मामें प्रेम। सत् यानी परमात्मा और सङ्ग यानी प्रेम। यही सर्वश्रेष्ठ सत्सङ्ग है। सत् यानी परमात्माके सङ्ग रहना अर्थात्

परमात्माका साक्षात् दर्शन करके भक्तका उनके साथ रहना ही सर्वोत्तम सत्सङ्ग है। यही सत्पुरुषका सङ्ग है; क्योंकि सर्वश्रेष्ठ सत्-पुरुष तो एक भगवान् ही हैं। इस सत्सङ्गके सामने स्वर्गकी तो बात ही क्या है, मुक्ति भी कोई चीज नहीं है। श्रीतुलसीदासजीने इस विशेष सत्सङ्गकी बड़े मार्मिक शब्दोंमें महिमा गायी है। वे कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

'हे तात! स्वर्ग और मुक्तिके सुखको तराजूके एक पलड़ेपर रखा जाय और दूसरे पलड़ेपर क्षणमात्रके सत्सङ्गको रखा जाय तो भी एक क्षणके सत्सङ्गके सुखके समान भी उन दोनोंका सुख मिलकर नहीं होता।'

दूसरे नंबरका सत्सङ्ग है—भगवान्‌के प्रेमी भक्तका या सत्-रूप परमात्माको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषका सङ्ग। तीसरे नंबरका सत्सङ्ग है—उन उच्चकोटिके साधक पुरुषोंका सङ्ग, जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न कर रहे हैं। चौथे नंबरका सत्सङ्ग उन सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायको कहते हैं, जिनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारका वर्णन है। ऐसे सत्-शास्त्रोंका सदा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पठन, मनन और अनुशीलन करनेसे भी सत्सङ्गका ही लाभ प्राप्त होता है।

इनमें सर्वश्रेष्ठ प्रथम नंबरका सत्सङ्ग तो भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। उसीके लिये सारी साधनाएँ की जाती हैं। परंतु संसारमें महापुरुषोंका—महात्माओंका सङ्ग प्राप्त होना भी कोई साधारण बात नहीं है। वह भी बड़े ही सौभाग्यसे मिलता है।

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

पुण्यपुञ्ज यानी पूर्वके महान् शुभ संस्कारोंके संग्रहसे ही महापुरुषोंका सङ्ग मिलता है। ऐसे सत्सङ्गका फल संसारके आवागमनसे यानी जन्म-मरणसे सर्वथा छूट जाना है। महात्माके सङ्गसे जैसा लाभ होता है, वैसा

लाभ संसारके किसीके भी सङ्गसे नहीं हो सकता। संसारमें लोग पारसकी प्राप्तिको बड़ा लाभ मानते हैं, परंतु सत्सङ्गका लाभ तो बहुत ही विलक्षण है। कविकी उक्ति है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरा जान।
वह लोहा सोना करे, यह करै आपु समान॥

पारस और संतमें बहुत भेद है, पारस लोहेको सोना बना सकता है; परंतु पारस नहीं बना सकता। किंतु संत-महात्मा पुरुष तो सङ्ग करनेवालेको अपने समान ही संत-महात्मा बना देते हैं। इसलिये महात्माओंके सङ्गके समान संसारमें और कोई भी लाभ नहीं है। परम दुर्लभ परमात्माकी प्राप्ति महात्माओंके सङ्गसे अनायास ही हो जाती है। उच्चकोटिके अधिकारी महात्मा पुरुषोंके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे भी पापोंका नाश होकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है। साधारण लाभ तो सङ्ग करनेवालेमात्रको समान भावसे होता ही है, चाहे उसे महात्माका ज्ञान हो या न हो। महात्माका महत्त्व जान लेनेपर तो उनमें श्रद्धा होकर विशेष ज्ञान हो सकता है। जैसे किसी कमरेमें ढकी हुई अग्नि पड़ी है और उसका किसीको ज्ञान नहीं है, तब भी अग्निसे कमरेमें गरमी आ गयी है और शीत-निवारण हो रहा है—यह सहज लाभ तो, वहाँ जो लोग हैं उनको, बिना जाने भी मिल रहा है। पर जब अग्निका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह मनुष्य उस अग्निसे भोजन बनाकर खा सकता है और दीपक जलाकर उसके प्रकाशसे लाभ उठा सकता है। अग्निमें प्रकाशिका और विदाहिका—ये दो शक्तियाँ स्वाभाविक ही हैं। अग्निका ज्ञान होनेपर ही मनुष्य उसकी दोनों शक्तियोंसे लाभ उठा सकता है और यदि अग्निमें यह भाव हो जाता है कि अग्नि साक्षात् देवता है, तब तो वह उसमें पुत्र, धन, आरोग्य, कीर्ति आदि किसी कामनाकी पूर्तिके लिये श्रद्धा तथा विधिपूर्वक हवन करता है तो वह अपने मनोरथके अनुसार उससे लाभ उठा लेता है और यदि श्रद्धापूर्वक निष्काम-

भावसे, शास्त्रोक्त विधिसे हवन करता है तो वह पुरुष मुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है। निष्कामभावपूर्वक यज्ञ करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे स्वाभाविक ही परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है तथा तत्त्वज्ञानसे वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार किसीको महात्मा पुरुष मिलते हैं तो उनका ज्ञान न रहनेपर भी सामान्यभावसे तो लाभ होता ही है। जैसे ढकी हुई अग्निके द्वारा—गरमीके द्वारा—शीत निवारण हो जाता है, वैसे ही महात्माओंके मिलनेपर उनके गुणोंके स्वाभाविक प्रभावसे वातावरणकी शुद्धि होनेके कारण पाप-भावनाका अभाव तथा उनके गुणोंका आभास तो आ ही जाता है। महात्माओंमें उत्तम गुण, उत्तम आचरण और उत्तम भाव होते हैं; उनका ज्ञान भी उच्चकोटिका होता है। उनके सङ्गसे ये सब चीजें किसी-न-किसी अंशमें बिना जाने-पहचाने भी आ ही जाती हैं। यदि पहचान हो जाती है और महात्माके अलौकिक प्रभावका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह, जैसा उसका ज्ञान होता है, उसके अनुसार लाभ उठा लेता है। जैसे अग्निकी विदाहिका और प्रकाशिका शक्तिका ज्ञान होनेपर अग्निका अर्थी पुरुष दोनों प्रकारके लाभ उठा लेता है—विदाहिकासे भोजन बनानेका और प्रकाशिकासे अन्धकार नाश करके प्रकाश प्राप्त करनेका; वैसे ही महात्मामें जो 'सद्गुण' और 'उत्तम आचरण'—ये दो वस्तुएँ स्वाभाविक ही हैं, उन दोनोंका ज्ञान होनेपर मनुष्य विशेष लाभ उठा सकता है। महात्माको जान लेनेसे यदि महात्मामें श्रद्धा हो जाती है तथा महात्माके इस प्रभावका भी ज्ञान हो जाता है कि महात्मा जो चाहे सो कर सकते हैं, तो संसारमें जो अल्पबुद्धि सकामी पुरुष है, वह महात्माके द्वारा अपनी लौकिक इच्छाकी, सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति कर लेता है। अवश्य ही यह बहुत नीची चीज है, महात्मा पुरुषोंसे संसारकी चीजें माँगना और सांसारिक भोगेच्छाकी पूर्ति करानेकी इच्छा करना वस्तुतः महात्माके वास्तविक प्रभाव तथा तत्त्वको न समझना और उनका दुरुपयोग करना

ही है। किंतु जो महात्माको और उनके असली गुण-प्रभावको श्रद्धा और निष्कामभावपूर्वक तत्त्वतः समझ जाता है, वह तो स्वयं महात्मा ही बन जाता है, यही यथार्थ लाभ है।

महापुरुषोंके लक्षण बड़े ही उच्चकोटिके बताये गये हैं। जैसे भगवान् बिना ही कारण सबपर दया और प्रेम करते हैं, इसी प्रकार महापुरुष भी अहैतुक कृपा तथा प्रेम किया करते हैं। जैसे भगवान्में क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि अनन्त गुण सहज होते हैं, वैसे ही महात्मामें भी होते हैं। जो ज्ञानके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा ब्रह्म ही बन जाता है, वह तो परमात्मासे कोई अलग पदार्थ ही नहीं रह जाता। परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव और गुण है, वही महात्माका 'महात्मापन' है। महात्माका शरीर तो महात्मा है नहीं और उसमें जो आत्मा है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है, परमात्मासे भिन्न रहता नहीं। अतः परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव और गुण है, वही 'महात्मापन' है।

जो प्रेमी भक्त भक्तिके द्वारा भगवान्को प्राप्त हो जाता है, उस भक्तमें भी भगवान्के वे गुण आ जाते हैं, जिनकी व्याख्या गीताके बारहवें अध्यायमें तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक की गयी है। ज्ञानके द्वारा जो परमात्माको प्राप्त हो गया है, जो ब्रह्म ही बन गया है, उस गुणातीत पुरुषके लक्षण गीताके चौदहवें अध्यायमें बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक बताये गये हैं।

उच्चकोटिके अधिकारी महात्मा पुरुषोंके तो दर्शनमात्रसे भी बहुत लाभ होता है; क्योंकि उससे महात्माका स्वरूप हृदयमें अङ्कित हो जाता है, जिससे हृदयके पाप नष्ट हो जाते हैं। महात्मा पुरुष दिव्य ज्ञानकी एक विलक्षण ज्योति है, वह दिव्य ज्ञानज्योति समस्त पापोंको भस्म कर देती है। महात्मा यदि किसीको स्मरण कर लें या कोई महात्माका स्मरण कर ले तो उसके मनमें उनकी स्मृति हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार महात्माका स्पर्श प्राप्त हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते हैं; चाहे महात्मा किसीको स्पर्श

करें, चाहे महात्माका कोई स्पर्श कर ले। जैसे एक ओर अग्नि पड़ी हुई है और दूसरी ओर एक घासकी ढेरी है। अग्निकी चिनगारी उड़कर घासपर गिरती है तो घास जलकर अग्नि बन जाती है और घास उड़कर अग्निमें गिरती है तो भी घास अग्नि बन जाती है, अग्नि अग्नि ही रहती है। वैसे ही अग्निकी भाँति महात्माओंमें सदा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रहती है। उस ज्ञानाग्निके द्वारा महात्मा पुरुषोंके तो पाप पहले ही नष्ट हो चुके हैं, किंतु जिसका उनके साथ किसी भी प्रकारका संसर्ग हो जाता है, उसके भी पाप नष्ट होते चले जाते हैं। फिर जो महात्माओंके साथ वार्तालाप करके उनके बताये हुए सिद्धान्तोंके अनुसार साधन करता है, उसका संसारसागरसे उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ! गीताके तेरहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

'परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

इसके पूर्व गीतामें यह कहा गया था कि कितने ही तो ध्यानयोगके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करते हैं, कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और कितने ही कर्मयोगके द्वारा, किंतु जो पुरुष न ज्ञानयोग जानते हैं, न ध्यानयोग जानते हैं और न कर्मयोग ही जानते हैं, मूढ़, अज्ञानी हैं, वे भी उन ज्ञानियोंके पास जाकर, उनकी बात सुनकर उसके अनुसार साधन करते हैं, तो वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरसे तर जाते हैं।

संसारमें अनासक्त जो वीतराग पुरुष हैं, उनके सङ्गसे भी मनुष्य वीतराग हो जाता है। विरक्त—वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे चित्तकी वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं, जिससे आगे चलकर उसे आत्माका ज्ञानतक हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनके प्रथम पादके ३७वें सूत्रमें कहा है—

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।'

'वीतराग पुरुष, जिसके चित्तका विषय है, उसके चित्तकी वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं।' ज्ञानी, महात्मा पुरुष तो वीतराग होकर ही महात्मा बने हैं। तीव्र वैराग्य और दैवी सम्पदाके लक्षण तो महात्मामें साधनावस्थामें आ जाते हैं। दैवी सम्पदाकी व्याख्या गीताके सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरेतक तीन श्लोकोंमें की गयी है।

महात्मा पुरुष हमें याद करते हैं तो उनके ध्यानमें हमारा चित्र आ जाता है। इससे भी बहुत लाभ हो जाता है और हम महात्माको याद करें तो भी हमें लाभ हो जाता है। वीतराग पुरुषको याद करनेसे जो लाभ होता है, उससे अधिक महात्माको याद करनेसे होता है और उससे भी अधिक विशेष लाभ श्रीभगवान्‌को याद करनेसे होता है। स्मरण करनेयोग्य तो श्रीभगवान् ही हैं। उनकी स्मृतिमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है। भगवान्‌में शरीर-शरीरी भेद नहीं है। अतः उनका शरीर दिव्य—अलौकिक चिन्मय है। परंतु महात्माका शरीर ऐसा नहीं है। महात्माका शरीर तो पाञ्चभौतिक है। इसीलिये भगवान्‌को दिव्य-चिन्मय माधुर्य-मूर्ति कहते हैं। उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श सभी आनन्दप्रद और कल्याणकर होते हैं। इसलिये भगवान्‌के समान तो भगवान् ही हैं। परंतु महात्मा पुरुषका स्मरण-सङ्ग भी अत्यन्त लाभदायक है। महापुरुषके सङ्गकी महिमा बताते हुए कहा गया है—

एक घड़ी आधी घड़ी, आधीमें पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की, कटै कोटि अपराध॥

एक घड़ी, आधी घड़ी या आधीमें भी आधी घड़ीका जो महात्मा पुरुषोंका सङ्ग है, उसका इतना माहात्म्य है कि उससे करोड़ों अपराध कट जाते हैं। यह समझें कि एक घड़ी चौबीस मिनटकी होती है, आधी बारह मिनटकी और आधीसे भी आधी यानी चौथाई छः मिनटकी। 'महात्मा'

****

शब्दसे यहाँ किसी आश्रमसे सम्बन्ध नहीं है। कोई गृहस्थ हों, संन्यासी हों, वानप्रस्थी हों या ब्रह्मचारी हों—जिनमें महात्माओंके लक्षण, जो गीतामें बताये गये हैं, मिलते हैं, वे ही महात्मा हैं। महात्माओंकी महिमा जितनी भी गायी जाय, थोड़ी ही है; जैसे गङ्गाजीकी महिमा जितनी गायी जाय, थोड़ी ही है। गङ्गा सारे संसारका उद्धार कर सकती है, किंतु कोई यदि गङ्गामें स्नान करने ही न जाय, गङ्गाजल पान करे ही नहीं तो इसमें गङ्गाजीका क्या दोष है। इसी प्रकार कोई महापुरुषसे लाभ नहीं उठावे तो उसमें महापुरुषका कोई दोष नहीं।

एक गङ्गासे ही सबका कल्याण हो सकता है; क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है कि गङ्गामें स्नान करनेसे, उसका जल पान करनेसे मनुष्योंके सारे पापोंका नाश हो जाता है और आत्माका उद्धार हो जाता है। गङ्गाजीकी भाँति ही महात्मा पुरुष लाखों-करोड़ों पुरुषोंका उद्धार कर सकते हैं और सारे संसारके मनुष्योंका उद्धार होना भी कोई असम्भव तो है ही नहीं, हाँ, कठिन अवश्य है; क्योंकि उनमें श्रद्धा हुए बिना तो कल्याण हो नहीं सकता और श्रद्धा होना कठिन है। प्रथम तो महापुरुष संसारमें मिलते ही बड़ी कठिनतासे हैं; क्योंकि संसारके करोड़ों मनुष्योंमें कोई एक महापुरुष होता है—जैसे गीताजीमें श्रीभगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

भगवान्‌को जो तत्त्वसे जानता है, वही महात्मा है। प्रथम तो लाखों-करोड़ोंमें कोई एक महात्मा होता है, फिर उसका मिलना भी बहुत ही दुर्लभ है, मिलनेपर भी उसे पहचानना उससे भी कठिन है। महात्माओंके

पहचाननेकी एक साधारण युक्ति यह है कि जैसे अग्निके समीप जानेसे जानेवालेपर अग्निका कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है, वैसे ही महात्माके समीप जानेसे महात्माका प्रभाव पड़ता है। जैसे सरकारके किसी सिपाहीको देखनेसे सरकारकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवान्‌के भक्तके दर्शनसे भगवान्‌की स्मृति होती है। जिनका सङ्ग करनेसे अपनेमें दैवी सम्पदाके लक्षण आवें, जिनके सङ्गसे, जिनके साथ वार्तालाप करनेसे, दर्शनसे, स्पर्शसे आत्माका सुधार हो, अपनेमें भक्तोंके लक्षण प्रकट होने लगें, गुणातीत पुरुषोंके लक्षण आने लगें तो समझना चाहिये कि यह महापुरुष है। जब हम महापुरुषोंका सङ्ग करनेके लिये जायँ तब हम यह समझें कि हम एक ज्ञानके पुञ्जके सम्मुख जा रहे हैं। जैसे सूर्यके सम्मुख जानेसे अन्धकार तो दूर भाग ही जाता है, किंतु अधिक-से-अधिक प्रकाश होता चला जाता है। हम देखते हैं कि जब प्रातःकाल सूर्य उदय होता है, तब ज्यों-ज्यों सूर्य नजदीक आता है, त्यों-ही-त्यों सूर्यके प्रकाशका अधिक असर पड़ता है। वैसे ही हम जितने ही महात्माओंके समीप होते हैं, उतना ही हमको अधिक लाभ मिलता है। वे एक ज्ञानके पुञ्ज हैं, उस ज्ञान-पुञ्जसे हमारे अज्ञानान्धकारका नाश होकर हमारे हृदयमें भी ज्ञान-सूर्यका प्राकट्य होता है। महात्माओंका अद्भुत प्रभाव होता है। उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे पापोंका नाश और दुर्गुण-दुराचारोंका अभाव होकर सद्गुण-सदाचार आ जाते हैं। अज्ञानका नाश होकर हृदयमें ज्ञान आ जाता है, जिससे हमें सहज ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। यह उन महापुरुषोंका प्रभाव है, जो भगवान्‌के भेजे हुए अधिकारी पुरुष हैं अथवा जो महापुरुष परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, यानी ब्रह्ममें मिल चुके हैं, सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे महात्मा परमात्मा ही बन जाते हैं। इसीलिये परमात्माके गुण-प्रभाव उनके गुण-प्रभाव हैं, यह समझना ही महात्माको तत्त्वसे समझना है। वास्तवमें महात्माका आत्मा परमात्मासे अलग नहीं है, पर हम

मानते नहीं, उसे परमात्मासे भिन्न समझते हैं; इसलिये हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं। यह समझना भी अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही होता है। भक्तिमार्गमें भगवान्‌में विलीन न होनेपर भी भक्तोंकी स्थिति विलक्षण होती है। जैसे जीवन्मुक्त ज्ञानीके दर्शन, भाषण, स्पर्शसे मनुष्य पवित्र हो जाता है, वैसे ही भगवत्प्राप्त भगवद्भक्तके दर्शन, भाषण, स्पर्शसे भी हो जाता है। महापुरुषोंका रहस्य वास्तवमें महापुरुष बननेपर ही समझमें आता है। उनका उद्देश्य सर्वथा अलौकिक और अद्भुत होता है। उनका अपना तो कोई काम रहता ही नहीं। संसारमें उनका जो जीवन है यानी शरीरकी स्थिति है तथा जो उनकी चेष्टा है, वह संसारके हितके लिये ही है। जैसे भगवान्‌का अवतार संसारके उद्धारके लिये ही होता है, वैसे ही महात्मा पुरुषोंका जीवन भी संसारके उद्धारके लिये ही है।

★

वैराग्य

वैराग्यका महत्त्व

कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वैराग्य-साधनकी परम आवश्यकता है। वैराग्य हुए बिना आत्माका उद्धार कभी नहीं हो सकता। सच्चे वैराग्यसे सांसारिक भोग-पदार्थोंके प्रति उपरामता उत्पन्न होती है। उपरामतासे परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ध्यान होता है। ध्यानसे परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होता है और ज्ञानसे उद्धार होता है। जो लोग ज्ञान-सम्पादनपूर्वक मुक्ति प्राप्त करनेमें वैराग्य और उपरामताकी कोई आवश्यकता नहीं समझते, उनकी मुक्ति वास्तवमें मुक्ति न होकर केवल भ्रम ही होता है। वैराग्य-उपरामता-रहित ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं, वह केवल वाचिक और शास्त्रीय ज्ञान है, जिसका फल मुक्ति नहीं, प्रत्युत और भी कठिन बन्धन है। इसीलिये श्रुति कहती है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥

(ईश० म० ९)

'जो अविद्याकी उपासना करते हैं, वे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्यामें रत हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।' ऐसा वाचिक ज्ञानी निर्भय होकर विषय-भोगोंमें प्रवृत्त हो जाता है, वह पापको भी पाप नहीं समझता, इसीसे वह विषयरूपी दलदलमें फँसकर पतित हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय ।
तुलसी ऐसी आत्मा, सहज नरक महँ जाय ॥

वास्तवमें ज्ञानके नामपर महान् अज्ञान ग्रहण कर लिया जाता है। अतएव यदि यथार्थ कल्याणकी इच्छा हो तो साधकको सच्चा, दृढ़ वैराग्य उपार्जन करना चाहिये। किसी स्वाँगविशेषका नाम वैराग्य नहीं है। किसी कारणवश या मूढ़तासे स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादिका त्याग कर देना, कपड़े रँग लेना, सिर मुड़वा लेना, जटा बढ़ाना या अन्य बाह्य चिह्नोंका धारण करना वैराग्य नहीं कहलाता। मनसे विषयोंमें रमण करते रहना और ऊपरसे स्वाँग बना लेना तो मिथ्याचार— दम्भ है। भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

(गीता ३ । ६)

'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंका मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

सम्प्रति दम्भका बहुत विस्तार हो रहा है, कोई लोगोंको ठगनेके लिये दिखौआ मौन धारण करता है, कोई आसन लगाकर बैठता है, कोई विभूति रमाता है, कोई केश बढ़ाता है, कोई धूनी तपता है—**'उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः ।'**

इनमेंसे कोई-सा भी वैराग्य नहीं है। मेरे इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि मैं स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, शिखा-सूत्रादि तथा कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेको बुरा समझता हूँ। न यही समझना चाहिये कि मौन धारण करना, आसन लगाना, विभूति रमाना, केश बढ़ाना या मुड़वाना आदि कार्य अशास्त्रीय और निन्दनीय हैं। न मेरा यही कथन है कि घर-बार त्यागकर इन चिह्नोंके धारण करनेवाले सभी लोग पाखण्डी हैं। उपर्युक्त कथन किसीकी निन्दा या किसीपर भी घृणा करनेके लिये नहीं समझना चाहिये। मेरा अभिप्राय यहाँ उन लोगोंसे है, जो वैराग्यके नामपर पूजा पाने और लोगोंपर अधिकार, रोब जमाकर उन्हें ठगनेके लिये नाना भाँतिके स्वाँग सजते हैं। जो साधक संयमके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, साधन बढ़नेके लिये ऐसा करते हैं उनकी कोई निन्दा नहीं है। भगवान्‌ने भी मिथ्याचारी उन्हींको बतलाया है, जो बाहरसे संयमका स्वाँग सजकर मन-ही-मन विषयका मनन करते रहते हैं। जो पुरुष चित्तकी वृत्तियोंको भगवच्चिन्तनमें नियुक्तकर सच्ची वैराग्य-वृत्तिसे बाह्याभ्यन्तर त्याग करते हैं, उनकी तो सभी शास्त्रोंने प्रशंसा की है।

वैराग्य बहुत ही रहस्यका विषय है, इसका वास्तविक तत्त्व विरक्त महानुभाव ही जानते हैं। वैराग्यकी पराकाष्ठा उन्हीं पुरुषोंमें पायी जाती है जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं—जिन्होंने परमात्मरसमें डूबकर विषयरससे अपनेको सर्वथा मुक्त कर लिया है।

भगवान् कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २। ५९)

'इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके केवल विषय निवृत्त हो जाते हैं, रस (राग) नहीं निवृत्त होता, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषका तो राग

भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।'

अब हमें वैराग्यके स्वरूप, उसकी प्राप्तिके उपाय, वैराग्यप्राप्त पुरुषोंके लक्षण और फलके विषयमें कुछ विचार करना चाहिये। साधनकालमें वैराग्यकी दो श्रेणियाँ हैं। जिनको गीतामें वैराग्य और दृढ़ वैराग्य, योगदर्शनमें वैराग्य और परवैराग्य एवं वेदान्तमें वैराग्य और उपरतिके नामसे कहा है। यद्यपि उपर्युक्त तीनोंमें ही परस्पर शब्द और ध्येयमें कुछ-कुछ भेद है, परन्तु बहुत अंशमें ये मिलते-जुलते शब्द ही हैं। यहाँ लक्ष्यके लिये ही तीनोंका उल्लेख किया गया है।

वैराग्यका स्वरूप

योगदर्शनमें यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार भेदसे वैराग्यकी चार संज्ञाएँ टीकाकारोंने बतलायी हैं, उसकी विस्तृत व्याख्या भी की है। यह व्याख्या सर्वथा युक्तियुक्त और माननीय है। तथापि यहाँ संक्षेपसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार वैराग्यके कुछ रूप बतलानेकी चेष्टा की जाती है, जिससे सरलतापूर्वक सभी लोग इस विषयको समझ सकें!

भयसे होनेवाला वैराग्य—संसारके भोग भोगनेसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी। क्योंकि भोगमें संग्रहकी आवश्यकता है, संग्रहके लिये आरम्भ आवश्यक है, आरम्भमें पाप होता है, पापका फल नरक या दुःख है। इस तरह भोगके साधनोंमें पाप और पापका परिणाम दुःख समझकर उसके भयसे विषयोंसे अलग होना 'भयसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य' है।

विचारसे होनेवाला वैराग्य—जिन पदार्थोंको भोग मानकर उनके सङ्गसे आनन्दकी भावना की जाती है, जिनकी प्राप्तिमें सुखकी प्रतीति होती है, वे वास्तवमें न भोग हैं, न सुखके साधन हैं, न उनमें सुख है। दुःखपूर्ण पदार्थोंमें—दुःखमें ही अविचारसे सुखकी कल्पना कर ली गयी है। इसीसे वे सुखरूप भासते हैं, वास्तवमें तो दुःख या दुःखके ही कारण हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निस्सन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।' अनित्य न प्रतीत हों तो इनको क्षणभङ्गुर समझकर सहन करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २। १४)

'हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं, इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर।' अगले श्लोकमें इस सहनशीलताका यह फल भी बतलाया है कि—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २। १५)

'दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके लिये योग्य होता है।' आगे चलकर भगवान्‌ने यह स्पष्ट कह दिया है कि जो पदार्थ विचारसे असत् ठहरता है वह वास्तवमें है ही नहीं। यही तत्त्वदर्शियोंका निर्णीत सिद्धान्त है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'हे अर्जुन! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्‌का अभाव

नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस प्रकारके विवेकद्वारा उत्पन्न वैराग्य 'विचारसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य' है।

साधनसे होनेवाला वैराग्य—जब मनुष्य साधन करते-करते प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव करने लगता है, तब उसके मनमें भोगोंके प्रति स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय उसे संसारके समस्त भोग-पदार्थ प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। सब विषय भगवत्प्राप्तिमें स्पष्ट बाधक दीखते हैं।

जो स्त्री-पुत्रादि अज्ञानीकी दृष्टिमें रमणीय, सुखप्रद प्रतीत होते हैं, वही उसकी दृष्टिमें घृणित और दुःखप्रद प्रतीत होने लगते हैं* । धन-मकान, रूप-यौवन, गाड़ी-मोटर, पद-गौरव, शान-शौकीनी, विलासिता-सजावट आदि सभीमें उसकी विषवत् बुद्धि हो जाती है और उनका सङ्ग उसे साक्षात् कारागारसे भी अधिक बन्धनकारक, दुःखदायी तथा घृणास्पद बोध होने लगता है। मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान आदिसे वह इतना डरता है, जितना साधारण मनुष्य सिंह-व्याघ्र, भूत-प्रेत और यमराजसे डरता है। जहाँ उसे सत्कार, पूजा या सम्मान मिलनेकी किञ्चित् भी सम्भावना होती है, वहाँ जानेमें उसे बड़ा भय मालूम होता है। अतः ऐसे स्थानोंको वह दूरसे ही त्याग देता है। जिन प्रशंसा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मानकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्य फूले नहीं समाते, उन्हींमें उसको लज्जा, सङ्कोच और दुःख होता है, वह उनमें अपना अधःपतन समझता है! हमलोग जिस प्रकार अपवित्र और घृणित पदार्थोंको देखनेमें हिचकते हैं, उसी प्रकार वह मान-बड़ाईसे घृणा करता है। किसीको भी प्रसन्न करनेके लिये या किसीके भी दबावसे

---

* इससे कोई यह न समझे कि स्त्री-पुत्रादिसे व्यवहारमें घृणा करनी चाहिये। गृहस्थ साधकको सबसे यथायोग्य प्रेमका बर्ताव करते हुए मनमें वैराग्यकी भावना रखनी चाहिये।

वह मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता । उसे वे प्रत्यक्ष नरकतुल्य प्रतीत होते हैं। जो लोग उसे मान-बड़ाई देते हैं, उनके सम्बन्धमें वह यही समझता है कि ये मेरे भोले भाई मेरी हितकामनासे विपरीत आचरण कर रहे हैं। ***'भोले साजन शत्रु बराबर'*** वाली उक्ति चरितार्थ करते हैं। इसलिये वह उनकी क्षणिक प्रसन्नताके लिये उनका आग्रह भी स्वीकार नहीं करता। वह जानता है कि इसमें इनका तो कोई लाभ नहीं है और मेरा अधःपतन है। पक्षान्तरमें स्वीकार न करनेमें न दोष है, न हिंसा है और इस कार्यके लिये इन लोगोंके इस आग्रहसे बाध्य होना धर्मसम्मत भी नहीं है। धर्म तो उसे कहते हैं, जो इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी हो। जो लोक-परलोक दोनोंमें अहितकर है वह कल्याण नहीं, अकल्याण ही है। पुरस्कार नहीं, महान् विपद् ही है। माता-पिता मोहवश बालकके क्षणिक सुखके लिये उसे कुपथ्य सेवन कराकर अन्तमें बालकके साथ ही स्वयं भी दुःखी होते हैं। इसी प्रकार ये भोले भाई भी तत्त्व न समझनेके कारण मुझे इस पाप-पथमें ढकेलना चाहते हैं। समझदार बालक माता-पिताके दुराग्रहको नहीं मानता तो वह दोषी नहीं होता। परिणाम देखकर या विचारकर माता-पिता भी नाराज नहीं होते। इस प्रकार विचार करनेपर ये भाई भी नाराज नहीं होंगे। यों समझकर वह किसीके द्वारा भी प्रदान की हुई मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता। वह समझता है कि इसके स्वीकारसे मैं अनाथकी भाँति मारा जाऊँगा। इतना त्याग मुझमें नहीं है कि दूसरोंकी जरा-सी खुशीके लिये मैं अपना सर्वनाश कर डालूँ। त्याग-बुद्धि हो, तो भी विवेक ऐसे त्यागको बुद्धिमानी या उत्तम नहीं बतलाता, जो सरल-चित्त भाई अज्ञानसे साधकोंको इस प्रकार मान-बड़ाई स्वीकार करनेके लिये बाध्य कर उन्हें महान् अन्धकार और दुःखके गड्ढेमें ढकेलते हैं, परमात्मा उन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे वे साधकोंको इस तरह विपत्तिके भँवरमें न डालें।

साधनद्वारा इस प्रकारकी विवेकयुक्त भावनाओंसे भोगोंके प्रति जो

वैराग्य होता है, 'वह साधनद्वारा होनेवाला वैराग्य है।' इस तरहके वैरागी पुरुषको संसारके स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, ऐश्वर्य आदि उसी प्रकार कान्तिहीन और नीरस प्रतीत होते हैं, जैसे प्रकाशमय सूर्यदेवके उदय होनेपर चन्द्रमा प्रतीत हुआ करता है।

परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे होनेवाला वैराग्य—जब साधकको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है, तब तो संसारके सम्पूर्ण पदार्थ उसे स्वतः ही रसहीन और मायामात्र प्रतीत होने लगते हैं। फिर उसे भगवत्तत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीमें कुछ भी सार नहीं प्रतीत होता। जैसे मृगतृष्णाके जलको मरीचिका जान लेनेपर उसमें जल नहीं दिखायी देता, जैसे नींदसे जगनेपर स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर स्वप्नके संसारका चिन्तन करनेपर भी उसमें सत्ता नहीं मालूम होती, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषको जगत्के पदार्थोंमें सार और सत्ताकी प्रतीति नहीं होती। जैसे चतुर बाजीगरद्वारा निर्मित रम्य बगीचेमें अन्य सब मोहित होते हैं, परन्तु उसका तत्त्व जाननेवाला झमूरा उसे मायामय और निस्सार समझकर मोहित नहीं होता, (हाँ, अपने मायापति मालिककी लीला देख-देखकर आह्लादित अवश्य होता है) इसी प्रकार इस श्रेणीका वैरागी पुरुष विषय-भोगोंमें मोहित नहीं होता।

इस प्रकारके वैराग्यवान् पुरुषकी संसारके किसी भोग-पदार्थमें आस्था ही नहीं होती, तब उसमें रमणीयता और सुखकी भ्रान्ति तो हो ही कैसे सकती है? ऐसा ही पुरुष परमात्माके परमपदका अधिकारी होता है। इसीको परवैराग्य या दृढ़ वैराग्य कहते हैं।

वैराग्य-प्राप्तिके उपाय

उपर्युक्त विवेचनपर विचारकर आरम्भमें साधकोंको चाहिये कि वे संसारके विषयोंको परिणाममें हानि करनेवाले मानकर भयसे या दुःखरूप समझकर घृणासे ही उनका त्याग करें। बारम्बार वैराग्यकी भावनासे, त्यागके महत्त्वका मनन करनेसे, जगत्की यथार्थ स्थितिपर विचार करनेसे, मृत

पुरुषों, सूने महलों, टूटे मकानों और खँडहरोंको देखने-सुननेसे, प्राचीन नरपतियोंकी अन्तिम गतिपर ध्यान देनेसे और विरक्त, विचारशील पुरुषोंका सङ्ग करनेसे ऐसी दलीलें हृदयमें स्वयमेव उठने लगती हैं, जिनसे विषयोंके प्रति विराग उत्पन्न होता है। पुत्र-परिवार, धन-मकान, मान-बड़ाई, कीर्ति-कान्ति आदि समस्त पदार्थोंमें निरन्तर दुःख और दोष देख-देखकर उनसे मन हटाना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।

(गीता १३। ८-९)

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख-दोषोंका बारम्बार विचार करना तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्ति और ममताका अभाव करना चाहिये।'

विचार करनेपर ऐसी और भी अनेक दलीलें मिलेंगी, जिनसे संसारके समस्त पदार्थ दुःखरूप प्रतीत होने लगेंगे।

योगदर्शनका सूत्र है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (साधनपाद १५)

परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख तथा दुःखोंसे मिश्रित होने और गुण-वृत्ति-विरोध होनेसे भी विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें समस्त विषयसुख दुःखरूप ही हैं। अब यहाँ इसका कुछ खुलासा कर दिया जाता है—

परिणामदुःखता—जो सुख आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखरूप हो, वह सुख परिणामदुःखता कहलाता है। जैसे रोगीके लिये आरम्भमें जीभको स्वाद लगनेवाला कुपथ्य। वैद्यके मना

करनेपर भी इन्द्रियासक्त रोगी आपात-सुखकर पदार्थको स्वादवश खाकर अन्तमें दुःख उठाता, रोता, चिल्लाता है। इसी प्रकार विषयसुख आरम्भमें रमणीय और सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखकर हैं। भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है, परन्तु परिणाममें वह (बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे) विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

दादकी खाज खुजलाते समय बहुत ही सुखद मालूम होती है। परन्तु परिणाममें जलन होनेपर वही महान् दुःखद हो जाती है। यही विषय-सुखोंका परिणाम है। इस लोक और परलोकके सभी विषय-सुख परिणामदुःखताको लिये हुए हैं। बड़े पुण्यसञ्चयसे लोगोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है, परन्तु **'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** (गीता ९। २१) वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इसलिये गोसाईंजी महाराजने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

तापदुःखता—पुत्र, स्त्री, स्वामी, धन, मकान आदि सभी पदार्थ हर समय ताप देते—जलाते रहते हैं। कोई विषय ऐसा नहीं है, जो विचार करनेपर जलानेवाला प्रतीत न हो। इसके सिवा जब मनुष्य अपनेसे दूसरोंको किसी भी विषयमें अधिक बढ़ा हुआ देखता है, तब अपने अल्प सुखके कारण उसके हृदयमें बड़ी जलन होती है। विषयोंकी प्राप्ति, उनके संरक्षण

****

और नाशमें भी सदा जलन बनी ही रहती है। कहा है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २३। १७)

धन कमानेमें कई तरहके सन्ताप, उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें सन्ताप, कहीं किसीमें डूब न जाय, इस चिन्तालयमें सदा ही जलना पड़ता है, नाश हो जाय तो जलन, खर्च हो जाय तो जलन, छोड़कर मरनेमें जलन, मतलब यह कि आदिसे अन्ततक केवल सन्ताप ही रहता है। इसलिये इसको धिक्कार दिया गया। यही हाल पुत्र, मान-बड़ाई आदिका है। सभीमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक सन्ताप बना रहता है। ऐसा कोई विषयसुख नहीं जो सन्ताप देनेवाला न हो।

संस्कारदुःखता—आज स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय प्राप्त हैं, उनके संस्कार हृदयमें अङ्कित हो चुके हैं, इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारोंके कारण उन वस्तुओंका अभाव महान् दुःखदायी होता है। मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर, सुडौल और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे पतिसे मुझे कितना सुख मिलता था, मेरी बड़ाई जगत्भरमें छा रही थी, मेरे पास लाखों रुपये थे। परन्तु आज मैं क्या-से-क्या हो गया। मैं सब तरहसे दीन-हीन हो गया। यद्यपि उसीके समान जगत्में लाखों-करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन विषयोंसे रहित हैं, परन्तु वे ऐसे दुःखी नहीं हैं। विषय-भोगोंकी बाहुल्यताके समय जिसके सुखोंके संस्कार होते हैं, उसे ही उनके अभावकी प्रतीति होती है। अभावकी प्रतीतिमें दुःख भरा हुआ है। यही संस्कारदुःखता है।

इसके सिवा यह बात भी सर्वथा ध्यानमें रखनी चाहिये कि संसारके सभी विषय-सुख सभी अवस्थाओंमें दुःखसे मिश्रित हैं।

गुण-वृत्तियोंके विरोधजन्य दुःख—एक मनुष्यको कुछ झूठ बोलने

या छल-कपट, विश्वासघात करनेसे दस हजार रुपये मिलनेकी सम्भावना प्रतीत होती है। उस समय उसकी सात्त्विकी वृत्ति कहती है—'पाप करके रुपये नहीं चाहिये, भीख माँगना या मर जाना अच्छा है, परन्तु पाप करना उचित नहीं।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है 'क्या हर्ज है ? एक बार तनिक-सा झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौन-सी है ? जरा-से छल-कपट या विश्वासघातसे क्या होगा ? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दारिद्र्य मिटा लें, भविष्यमें ऐसा नहीं करेंगे।'

यों सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमें महान् युद्ध मच जाता है, इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है। विषाद और उद्विग्नताका पार नहीं रहता।

इसी तरह राजसी, तामसी वृत्तियोंका झगड़ा होता है। एक मनुष्य शतरंज या ताश खेल रहा है। उधर उसके समयपर न पहुँचनेसे घरका आवश्यक काम बिगड़ता है। कर्ममें प्रवृत्त करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है—'उठो, चलो हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।' इधर प्रमादरूपा तामसी वृत्ति पुनः-पुनः उसे खेलकी ओर खींचती है, वह बेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुःखी हो जाता है।

उदाहरणके लिये दो दृष्टान्त ही पर्याप्त हैं।

इस प्रकार विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि संसारके सभी सुख दुःखरूप हैं। अतएव इनसे मन हटानेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त भयसे और विचारसे होनेवाले दोनों प्रकारके वैराग्योंको प्राप्त करनेके यही उपाय हैं, ये उपाय पूर्वापेक्षा उत्तम श्रेणीके वैराग्य-सम्पादनमें भी अवश्य ही सहायक होते हैं। परन्तु अगले दोनों वैराग्योंकी प्राप्तिमें निम्नलिखित साधन विशेष सहायक होते हैं।

परमात्माके नाम-जप और उनके स्वरूपका निरन्तर स्मरण करते रहनेसे हृदयका मल ज्यों-ज्यों दूर होता है, त्यों-त्यों उसमें उज्ज्वलता आती है। ऐसे

****

उज्ज्वल और शुद्ध अन्तःकरणमें वैराग्यकी लहरें उठती हैं, जिनसे विषयानुराग मनसे स्वयमेव ही हट जाता है। इस अवस्थामें विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मैले दर्पणको रूईसे घिसनेपर ज्यों-ज्यों उसका मैल दूर होता है, त्यों-ही-त्यों वह चमकने लगता है और उसमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलायी पड़ता है, इसी प्रकार परमात्माके भजन-ध्यानरूपी रूईकी चालू रगड़से अन्तःकरणरूपी दर्पणका मल दूर होनेपर वह चमकने लगता है और उसमें सुखस्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। ऐसी स्थितिमें जरा-सा भी बाकी रहा हुआ विषय-मलका दाग साधकके हृदयमें शूल-सा खटकता है। अतएव वह उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ उस दागको मिटानेके लिये भजन-ध्यानमें तत्पर होकर अन्तमें उसे सर्वथा मिटाकर ही छोड़ता है। ज्यों-ज्यों भजन-ध्यानसे अन्तःकरणरूपी दर्पणकी सफाई होती है, त्यों-त्यों साधककी आशा और उसका उत्साह बढ़ता रहता है, भजन-ध्यानरूपी साधन-तत्त्व न समझनेवाले मनुष्यको ही भाररूप प्रतीत होता है। जिसको इसके तत्त्वका ज्ञान होने लगा है, वह तो उत्तरोत्तर आनन्दकी उपलब्धि करता हुआ पूर्णानन्दकी प्राप्तिके लिये भजन-ध्यान बढ़ाता ही रहता है। उसकी दृष्टिमें विषयोंमें दीखनेवाले विषय-सुखकी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। इससे उसे दृढ़ वैराग्यकी बहुत शीघ्र प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने इस दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा ही अहंता, ममता और वासनारूप अतिदृढ़ मूलवाले संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको काटनेके लिये कहा है।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।

(गीता १५।३)

संसारके चित्रको सर्वथा भुला देना ही इस अश्वत्थ-वृक्षका छेदन करना है। दृढ़ वैराग्यसे यह काम सहज ही हो सकता है।

भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

(गीता १५ । ४)

इसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये, (उस परमात्माके विज्ञान आनन्दघन **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**का बारम्बार चिन्तन करना ही उसे ढूँढ़ना है) जिसमें गये हुए पुरुष फिर वापस संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है। उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ (उस परमपदके स्वरूपको पकड़ लेना—उसमें स्थित हो जाना ही उसकी शरण होना है)। इस प्रकार शरण होनेपर—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

(गीता १५ । ५)

'नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी तरह नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

वैराग्यका फल

बस, इस प्रकार एक परमात्माका ज्ञान रह जाना ही अटल समाधि या जीवन्मुक्त-अवस्था है, उसीके ये लक्षण हैं। तदनन्तर ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष भगवान्‌के भक्त संसारमें किस प्रकार विचरते हैं, उनकी कैसी स्थिति होती है, इसका विवेचन गीताके अध्याय १२ के श्लोक १३ से १९ तक निम्नलिखित रूपमें है, भगवान् उसके लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

'इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है। जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता एवं जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मुझे प्रिय है। जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतर शुद्ध, चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था, उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जो

न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है। जो पुरुष शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।'

अतएव इस असार-संसारसे मन हटाकर इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्यवान् होकर सबको परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

★

वैराग्य और उपरामता

वैराग्यकी बात वैराग्यवान् पुरुष ही कह सकता है और उसीका कहना सार्थक भी है; क्योंकि वैराग्यवान् पुरुषोंके साथ वैराग्य मूर्तिमान् होकर चलता है। वे जिस मार्गसे जाते हैं, उस मार्गमें वैराग्यकी बाढ़ आ जाती है। वैराग्यवान् पुरुषोंके नेत्रोंसे वैराग्यकी लहरें निकल-निकलकर चारों ओर फैलती रहती हैं। सभी भाव अपने सजातीय भावोंको जाग्रत् करते हैं—यह नियम है। अतः वैराग्यकी ये लहरें जिन-जिन मनुष्योंके हृदयमें प्रवेश करती हैं, उन-उन मनुष्योंके अन्तःकरणमें स्थित वैराग्यके भावोंको जाग्रत् करती हैं, उन्हें तीव्र करती हैं।

वैराग्यके साथ उपरामता एवं ध्यानका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। आगे-आगे वैराग्य रहता है, उसके पीछे उपरामता तथा इन दोनोंके पीछे परमात्माका ध्यान। इस प्रकार वैराग्य, उपरामता और ध्यानका पारस्परिक

सम्बन्ध वैसा ही है जैसा राम, सीता एवं लक्ष्मणका पथिक रूपमें मिलता है। रामके साथ सीताजी रहती हैं, सीताजीके साथ राम। रामके बिना लक्ष्मणको चैन नहीं और लक्ष्मणके बिना रामको। राम और लक्ष्मण सीताजीको अपने बीचमें रखते हैं। ठीक इसी प्रकार जहाँ वैराग्य और ध्यान है, वहाँ उपरामता उनके बीचमें अवश्य विद्यमान रहती है। अर्थात् वैराग्यसे उपरामता और उपरामतासे परमात्माका ध्यान स्वतःसिद्ध है।

वैराग्यवान् पुरुषके दर्शनमात्रसे वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। फिर उसके इशारेसे, व्याख्यानसे वैराग्य उत्पन्न हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। सच्चे वैराग्यवान् पुरुषके प्रवचनसे वेश्यातकको भी वैराग्य हो जाता है। दत्तात्रेयजीके दर्शनसे वेश्याको वैराग्य हो गया था। यवनभक्त हरिदासजीकी क्रियाओंसे उनके विरोधियोंद्वारा भेजी हुई अत्यन्त पटु वेश्या भी अपनी वेश्या-वृत्तिको छोड़ संसारसे विरक्त होकर हरिनामपरायण हो गयी। जिसको फँसाने गयी थी उसके सर्वबन्धनसे मुक्त करनेवाले जालमें स्वयं फँस गयी। सच्चे वैरागियोंका यही तो लक्षण है—कामी-से-कामी पुरुषमें भी वैराग्यकी ज्वाला उत्पन्न कर देना।

श्रीपातञ्जलयोगदर्शनमें आया है—

'वीतरागविषयं वा चित्तम्' (१।३७)

'वीतराग पुरुषोंको विषय करनेवाला (स्मरण करनेवाला) चित्त समाधिस्थ हो जाता है।' अर्थात् जो वीतराग पुरुष हैं, उनका ध्यान करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है। अतः चित्तवृत्तियोंके निरोधके लिये श्रीशुकदेवजी-जैसे वीतराग पुरुषोंका ध्यान करना चाहिये। श्रीशुकदेवजीकी उपरामता, उनके वैराग्य आदिके विषयमें क्या कहा जाय? एक बार वे किसी सरोवरके पाससे होकर निकले। सरोवरमें बहुत-सी स्त्रियाँ विवस्त्र होकर स्नान कर रही थीं। कुछ ही क्षण बाद उसी मार्गसे श्रीवेदव्यासजी निकले। उन्हें देखते ही सब स्त्रियाँ सकुचा गयीं और जलसे बाहर निकलकर

जल्दी-जल्दी अपने कपड़े पहन, अतिविनीत भावसे प्रार्थना करने लगीं। वेदव्यासजी आश्चर्यमें डूब गये कि मेरा युवक पुत्र शुकदेव अभी-अभी यहाँसे निकला है। उसको देखकर तो इन स्त्रियोंने कुछ भी लज्जा न कीं; किन्तु मुझ वृद्धको देखकर इन्होंने झट लज्जासे कपड़े पहन लिये। इसका क्या रहस्य है ? उन्होंने उन स्त्रियोंसे ही इसका कारण पूछा। स्त्रियोंने उत्तर दिया—'स्वामिन्! शुकदेवजीके मनमें यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह वृक्ष है, यह पशु है, यह पक्षी है—ऐसा भेदभाव नहीं है ! उनको कुछ पता ही नहीं कि ये स्त्रियाँ हैं या वृक्ष। परन्तु आपके मनमें अभीतक यह भेद विद्यमान है। इसीसे हमलोगोंने सकुचाकर कपड़े पहन लिये। इससे शुकदेवजीकी उपरामताका पता लगता है।

श्रीमद्भागवतमें जडभरतजीका वर्णन आता है। उनपर भी वैराग्यका नशा चढ़ा था और वह भी इतना अधिक कि ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्होंने शराब पी ली हो। शराबका नशा तामसी होता है, अन्नका राजसी और वैराग्यका सात्त्विक। जडभरतजी वैराग्य एवं उपरामताके नशेमें चूर रहते थे। उनकी इस मस्तीको संसारके लोग भला क्या समझें ? जिसको जिस वस्तुका कुछ ज्ञान नहीं, कुछ अनुभव नहीं, उसका महत्त्व वह कैसे आँक सकता है ? अतः घरवालों और बाहरवालोंने उन्हें मूर्ख समझ लिया था। एक बार भद्रकालीकी बलिके लिये एक दस्युराजके कुछ सेवक उन्हें पकड़कर ले गये। जिस समय दस्युराजके पुरोहित बने हुए लुटेरेने जडभरतजीको मारनेके लिये तलवार निकाली, उसी क्षण देवी प्रकट हो गयीं और उन्होंने उन सब दुष्टोंको मार डाला। जडभरतजीसे देवीने वरदान माँगनेके लिये कहा। देवीका आग्रह देख उन्होंने यही वरदान माँगा कि इन सबको जिला दो। कितना त्याग है ! अपने प्राण लेनेका प्रयत्न करनेवालोंके प्रति भी कितनी दया है !

एक बार जडभरतजी राजा रहूगणजीकी पालकीमें जोड़ दिये गये। कोई

जीव पैरोंतले न दब जाय—इस डरसे वे देख-देखकर पैर रखते थे। अतएव दूसरे कहारोंसे उनकी चालका मेल न होनेसे पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी। राजाको यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने क्रोधसे लाल होकर जडभरतजीको बहुत बुरा-भला कहा, मारनेकी बात कही। ऊपर-नीचेकी बात कही। जडभरतजीने उत्तर दिया—'राजन्! कौन ऊपर है, कौन नीचे। मुझपर पालकी है, पालकीपर आप, आपपर छत एवं छतपर आकाश। मारेंगे किसको? आत्मा अमर है, शरीर नाशवान्।' राजा इन रहस्यमय शब्दोंको सुन पालकीसे कूद पड़े। उनको मालूम हुआ ये तो महात्मा हैं। झट उनके चरणोंमें गिर पड़े। दयालु जडभरतजीने उपदेश दिया, जिससे राजाको वैराग्य होकर परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। ध्यान लगनेके लिये सौ युक्तियोंकी एक युक्ति वैराग्य है। ध्यान करनेवाले योगी महात्मा तो वैराग्यका आश्रय लेते हैं और युक्तियाँ फिर अपने-आप पैदा होती रहती हैं।

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम वैराग्य है। संसारके भोगोंमें आसक्ति—प्रीति नहीं, ब्रह्मलोकतकके भोग काक-विष्ठाके समान अत्यन्त हेय प्रतीत हों, यह वैराग्य है। इन पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ जायँ ही नहीं, यह उपरामता है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है। बिना वैराग्यकी उपरामता तो कच्ची है, मनको धोखा देनेवाली है। ऋषभदेवजीमें बड़ी उच्च कोटिकी उपरामता थी, गौतमबुद्धजीसे भी बढ़कर। उनके समान उपरामताका और कोई उदाहरण नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उनको संसारका ज्ञान नहीं था। वनमें आग लगी है, उनको पता नहीं। शरीरमें आग लगी, शरीर शान्त भी हो गया; पर उनको आगका पता ही नहीं चला। यह उपरामताकी सीमा है। वे ऐसी मस्तीमें स्थित हैं कि कुछ पता ही नहीं। देहाध्यास ही नहीं। किसी भी संन्यासीमें, किसी भी गृहस्थमें ऐसी उपरामता हो तो वह बड़ी प्रशंसनीय है।

उपरामताके दो भेद हैं—भीतरी और बाहरी। दोनों ही श्रेष्ठ हैं, किन्तु

आत्माके वास्तविक कल्याणके लिये भीतरीका ही अधिक महत्त्व है। राजा जनकमें बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनके लिये जगत्‌का अभाव ही था। शुकदेवजीमें दोनों उपरामताएँ थीं—भीतरी भी और बाहरी भी। राजा जनकने उनको इस बातका बोध कराया। उन्होंने शुकदेवजीको बतलाया कि 'महाराज ! आपमें भीतरकी एवं बाहरकी दोनों उपरामताएँ हैं। आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ सीखना नहीं है, जाकर ध्यान लगाइये।'

शुकदेवजीने जाकर ध्यान लगाया। उनकी समाधि लग गयी और उन्हें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी।

समुद्रमें चारों ओरसे नदियोंका जल गिरता है, परन्तु वह गम्भीर है, परिपूर्ण है, अचलप्रतिष्ठ है, वह निरन्तर नदियोंके गिरते रहनेसे तनिक भी चलायमान नहीं होता, अपनी मर्यादाको नहीं छोड़ता। इसी प्रकार ज्ञानी, महात्मा, विरक्त, निष्काम पुरुष सदैव अपनी महिमामें परिपूर्ण हैं। संसारके नाना प्रकारके कोई भी भोग उनके मनको विचलित नहीं कर सकते (गीता २।७०)। संसारके भोग आकर उनको प्राप्त होते हैं और वे उनका यथायोग्य व्यवहार भी करते हैं पर उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। उलटे उन्हें तो शान्ति प्राप्त होती है।

ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें संसारका आत्यन्तिक अभाव है और संसारी पुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माका। विषयीके मनमें यह शङ्का तो रहती है कि परमात्मा है कि नहीं, परन्तु नास्तिक तो कहता है, है ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञानीके लिये संसार है ही नहीं।

गीतामें दूसरे अध्यायके ६८वेंसे ७१वें श्लोकतक ब्राह्मी स्थितिका वर्णन किया गया है। जिसको यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह फिर मोहको प्राप्त नहीं होता। यदि अन्तकालमें भी यह निष्ठा प्राप्त हो जाय तो निश्चय ही उसे ब्रह्मानन्दकी, निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है—

****

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता २। ७२)

गीताके दूसरे अध्यायके ६८ वेंसे ७१वें तकके श्लोकोंमें जो ब्राह्मी स्थितिका वर्णन है, उसमें ६८ वें ६९ वेंमें तो सिद्ध पुरुषोंकी उपरामताका वर्णन किया गया है और ७०-७१ में उनके वैराग्यका।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥*

(गीता २। ६८—७१)

---

* 'इसलिये हे अर्जुन! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है। सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य-ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है। जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले, समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं। जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है।'

सिद्ध पुरुषोंकी तो यह स्थिति है और साधकके लिये यही साधन है। रागी और वैराग्यवान्‌में रात-दिनका अन्तर है। एकको अन्धकार कहें तो दूसरा प्रकाश है। वैराग्यवान् पुरुषकी पहचान होनी बड़ी कठिन है। हम अपनी मोहग्रसित बुद्धिके द्वारा वैराग्यवान् पुरुषके बाहरी आचरणोंको देखकर उसका महत्त्व समझना चाहें तो कभी नहीं समझ सकते। कपूरकी गन्धको कुत्ता क्या समझे ? कस्तूरीकी पहचान गधा क्या कर सकता है ? बस, यही बात वैराग्यवान् पुरुषके विषयमें है। वह स्वयं ही अपनेको जानता है या थोड़ा-बहुत अनुमान कोई दूसरा वैराग्यवान् पुरुष कर सकता है। जो पदार्थ रागी पुरुषको प्रिय होते हैं, उसको सुख पहुँचानेवाले होते हैं, वे ही पदार्थ सच्चे भक्तको (वैराग्यवान् पुरुषको) उलटी (वमन) के समान हेय प्रतीत होते हैं—

रमाबिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

(रामचरित० अयोध्या०)

वैराग्यवान् साधकको विषय विषके समान लगते हैं। रागीको इत्र-फुलेल, लवेंडर आदि चीजें अत्यन्त प्रिय लगती हैं, पर वैराग्यवान् साधकको ये चीजें ऐसी लगती हैं मानो मल-मूत्र हों। उसके शरीरसे कहीं इनका स्पर्श हो जाता है तो उसको ऐसी घृणा होती है मानो पेशाबका छींटा उसपर गिर गया हो। एकदम उलटी बात है। मखमलका गद्दा रागीको अच्छा मालूम होता है, पर वैराग्यवान् साधकको वह दुःखरूप प्रतीत होता है। पर कहीं उसका पैर हेसियन (Hessian) की चट्टीपर पड़ जाता है तो वैराग्यके नशेमें वह अत्यन्त प्रिय लगती है। मान लो यहाँ बहुत-से लोग सो गये। रातको ठंड पड़नेकी सम्भावनासे उनके पास ही बहुत-से कम्बल, दुशाले, हेसियनकी चट्टी आदि रख दी गयी। रातको रागीका हाथ दुशालेपर ही पड़ेगा। कम्बलपर भी पड़ सकता है, पर तभी जब कि दुशालेसे सर्दी दूर न हो। वैराग्यवान् साधकका हाथ स्वाभाविकरूपसे हेसियनकी चट्टीपर

ही जायगा। चाहे जान-बूझकर दोनों ऐसा न करें, परन्तु स्वाभाविकरूपसे उनके द्वारा ये ही क्रियाएँ होंगी। दोनोंका अपना-अपना स्वभाव बन गया है और वह जाने-अनजाने स्वतः ही अपनी रुचिके अनुकूल क्रियाओंमें प्रवृत्त हो जाता है।

वैराग्यवान्‌को जो सुख मिलता है, वह रागीके भाग्यमें कहाँ। वैराग्यवान्‌का सुख शुद्ध सात्त्विक है। यदि कहीं फूलोंकी वर्षा होती हो तो वहाँ वैराग्यवान् पुरुष जायगा ही नहीं; क्योंकि वह वस्तु उसे हृदयसे बुरी लगती है। देवतागण उसके लिये विमान लेकर आते हैं, पर वह आँख खोलकर उनकी ओर देखता ही नहीं, वह विमानसे घबराता है। वह तो अपने आत्म-सुखमें मस्त रहता है। उसे कितना सुख मिलता है ! दधीचिके पास इन्द्र जाता है। ऋषि ध्यानमें मस्त हैं। आँख खुलनेपर इन्द्र उपदेश करनेके लिये प्रार्थना करता है। ऋषि कहते हैं—'तुम्हारा सुख कुत्तेका-सा है। स्वर्गके अपार वैभवके बीच जो सुख तुम अपनी पत्नी शचीके साथ भोगते हो, वही सुख एक कुत्ता अपनी कुतियाके साथ घूरेपर अनुभव करता है।' वास्तवमें यदि ध्यानपूर्वक सोचें तो बात भी ऐसी ही है। विषयसुखका क्या महत्त्व है ! कुछ भी नहीं।

छोटे बच्चे मखमलके कोट पहनते हैं, जरीकी टोपियाँ ओढ़ते हैं, खिलौनोंको लेकर खूब आमोद-प्रमोद करते हैं। कभी-कभी अपने पितासे भी कह बैठते हैं—'पिताजी ! आप भी खेलें।' पिता उनकी बात सुनकर हँसता है; क्योंकि वैसे चमकीले कपड़ोंसे, वैसे खिलौनोंसे उसकी स्वाभाविक अरुचि है। उसको वे अच्छे नहीं लगते। ऐसे ही वैराग्यवान् पुरुषको भोगोंकी वस्तुएँ अच्छी नहीं लगतीं। वे इनको देखकर हँसते हैं। वैराग्यमें उन्हें इतना आनन्द मिलता है कि उसके साथ अमृतकी भी क्या बात कही जाय। उनके हृदयमें क्षण-क्षणमें आनन्दकी लहरें उठती रहती हैं। इस स्थितिको कैसे समझा या समझाया जाय। जिसमें वैराग्य हो, वही इसको

समझ सकता है। यह स्वयं अनुभव करनेकी वस्तु है, कहने-सुननेसे इसका अनुभव नहीं हो सकता। साँप काटनेपर जैसे दुःखकी—पीड़ाकी लहरें आती हैं, समुद्रमें जैसे जलकी लहरें उठती हैं तथा बिजलीके करेंटको छूनेसे जिस प्रकार तमाम शरीरमें एक लहर दौड़ जाती है, वैसे ही वैराग्यमें आनन्दकी लहरें उठती हैं, क्षण-क्षणमें उठती हैं और बहुत ही मधुर एवं सरसरूपमें उठती हैं। आनन्दकी इन लहरोंको कैसे समझावें, कोई उदाहरण नहीं मिलता। कामी पुरुषका दृष्टान्त दें तो उस बेचारेको शान्ति, आनन्दका क्या पता ! लोभीको पारस मिलनेपर आनन्दकी लहरें उठती हैं, पर उसके साथ भय है—'कहीं कोई पारस छीन न ले।' उसे अपने नाशका भय है; पारसके नाशका भय है। उसका उदाहरण भी वैराग्यवान् पुरुषकी स्थितिको ठीक रूपसे समझा नहीं सकता। यह तो गूँगेका गुड़ है। जो जानता है, वह कह नहीं सकता; जो कहता है, वह वास्तविक रूपसे जानता नहीं।

रागीको संसारके विषय-भोगोंके भोगनेमें जितना सुख प्रतीत होता है, उससे बहुत अधिक आनन्द वैराग्यवान् साधकको वैराग्यमें होता है। उसे वैराग्यका ऐसा नशा रहता है कि वह भोगोंकी ओर दृष्टि ही नहीं डालता। उसे इनमें रस ही नहीं प्रतीत होता। उपरामता होनेपर जो आनन्द मिलता है, वह वैराग्यसे भी बहुत अधिक है। ध्यान होनेपर तो और भी विशेष आनन्द मिलता है (गीता ५। २१)। उस आनन्दको कैसे समझाया जाय ! उस आनन्दरूपी अमृतसागरकी एक बूँदके आभासमात्रसे सारा संसार आनन्दित हो रहा है, मुग्ध हो रहा है, परन्तु उस भाग्यवान् पुरुषको तो वह सागर ही प्राप्त हो जाता है। हमारी अल्पबुद्धि उसका अनुभव करनेमें असमर्थ है। इस आनन्दका अनुभव हमलोगोंको तभी होगा जब भगवत्कृपासे हम उसे प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे।

——★——

उपनिषदोंमें भेद और अभेद-उपासना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(बृहदारण्यक० ५।१।१)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है, यह संसार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है; क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है; पूर्ण (संसार) के पूर्ण (पूरक परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होनेपर उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।'

हिंदू-शास्त्रोंका मूल वेद है, वेद अनन्त ज्ञानके भण्डार हैं, वेदोंका ज्ञानकाण्ड उसका शीर्षस्थानीय या अन्त है, वही उपनिषद् या वेदान्तके नामसे ख्यात है। उपनिषदोंमें ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ निर्णय किया गया है और साथ ही उसकी प्राप्तिके लिये विभिन्न श्रद्धा, रुचि और स्थितिके साधकोंके लिये विभिन्न उपासनाओंका प्रतिपादन किया गया है। उनमें जो प्रतीकोपासनाका वर्णन है, उसे भी एकदेशीय और सर्वदेशीय—दोनों ही प्रकारसे करनेको कहा गया है। ऐसी उपासना स्त्री, पुत्र, धन, अन्न, पशु आदि इस लोकके भोगोंकी तथा नन्दनवन, अप्सराएँ और अमृतपान आदि स्वर्गीय भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेका भी प्रतिपादन किया गया है एवं साथ ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये भी अनेक प्रकारकी उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। उनमेंसे इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनाओंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिविषयक उपासनाओंके जो विस्तृत विवेचन हैं, उन्हींका यहाँ बहुत संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

****

उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक, संकेत तथा विधि-निषेधात्मक विविध वाक्योंके द्वारा विविध युक्तियोंसे विभिन्न साधन बतलाये गये हैं; उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार संलग्न होकर अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। उपनिषदुक्त सभी साधन १. भेदोपासना और २. अभेदोपासना—इन दो उपासनाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। भेदोपासनाके भी दो प्रकार हैं। एक तो वह, जिसमें साधनमें भेदभावना रहती है और फलमें भी भेदरूप ही रहता है; और दूसरी वह, जिसमें साधनकालमें तो भेद रहता है, परंतु फलमें अभेद होता है। पहले क्रमशः हम भेदोपासनापर ही विचार करते हैं।

भेदोपासना

भेदोपासनामें तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं—१. माया (प्रकृति), २. जीव और ३. मायापति परमेश्वर। इनका वर्णन उपनिषदोंमें कई जगह आता है। प्रकृति जड है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग जड होते हुए क्षणिक, नाशवान् और परिणामी भी है। जीवात्मा और परमेश्वर—दोनों ही नित्य, चेतन और आनन्दस्वरूप हैं; किंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ हैं; जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ हैं; जीव अंश है और परमेश्वर अंशी हैं; जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी हैं एवं जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य हैं। वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवोंके कल्याणके लिये उपदेश भी देते हैं।

इस विषयमें केनोपनिषद्में एक इतिहास आता है। एक समय परमेश्वरके प्रतापसे स्वर्गके देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। पर देवता अज्ञानसे अभिमानवश यह मानने लगे कि हमारे ही प्रभावसे यह विजय हुई है। देवताओंके इस अज्ञानपूर्ण अभिमानको दूर कर उनका हित करनेके लिये स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा उन देवताओंके निकट सगुण-साकार यक्षरूपमें प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये इन्द्रादि देवताओंने

पहले अग्निको भेजा। यक्षने अग्निसे पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है ?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं जातवेदा अग्नि हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको जला सकता हूँ।' यक्षने एक तिनका रखा और उसे जलानेको कहा; किंतु अग्नि उसको नहीं जला सके एवं लौटकर देवताओंसे बोले—'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तदनन्तर देवताओंके भेजे हुए वायुदेव गये। उनसे भी यक्षने यही पूछा कि 'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है ?' उन्होंने कहा—'मैं मातरिश्वा वायु हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको उड़ा सकता हूँ।' तब यक्षने उनके सामने भी एक तिनका रखा, किंतु वे उसे उड़ा नहीं सके और लौटकर उन्होंने भी देवताओंसे यही कहा कि 'मैं इसको नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तत्पश्चात् स्वयं इन्द्रदेव गये, तब यक्ष अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर इन्द्रने उसी आकाशमें हैमवती उमादेवीको देखकर उनसे यक्षका परिचय पूछा। उमादेवीने बतलाया कि 'वह ब्रह्म था और उस ब्रह्मकी ही इस विजयमें तुम अपनी विजय मानने लगे थे।' इस उपदेशसे ही इन्द्रने समझ लिया कि 'यह ब्रह्म है।' फिर अग्नि और वायु भी उस ब्रह्मको जान गये। इन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना, इसलिये इन्द्र, अग्नि और वायुदेवता अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ माने गये।

इस कथासे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोंमें जो कुछ भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है। गीतामें भी श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इस प्रकार उपनिषदोंमें कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है। वहाँ यह भी बतलाया गया है कि उपासक अपने उपास्य देवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है। कठोपनिषद्‌में सगुण-निर्गुणरूप ओंकारकी उपासनाका भेदरूपसे वर्णन करते हुए यमराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनँ् श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(१।२।१६-१७)

'यह अक्षर ही तो ब्रह्म है और अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

इसलिये कल्याणकामी मनुष्योंको इस दुःखरूप संसारसागरसे सदाके लिये पार होने और परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही उनकी उपासना करनी चाहिये, सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं। वे परमेश्वर इस शरीरके अंदर सबके हृदयमें निराकाररूपसे सदा-सर्वदा विराजमान हैं, परंतु उनको न जाननेके कारण ही लोग दुःखित हो रहे हैं। जो उन परमेश्वरकी उपासना करता है, वह उन्हें जान लेता है और इसलिये सम्पूर्ण दुःखों और शोकसमूहोंसे निवृत्त होकर परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद्‌में भी बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

****

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

(३ । १ । १—३)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इस शरीररूपी समान वृक्षपर रहनेवाला जीवात्मा शरीरकी गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है और असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है; किन्तु जब कभी भगवान्‌की अहैतुकी दयासे भक्तोंद्वारा नित्यसेवित तथा अपनेसे भिन्न परमेश्वरको और उनकी महिमाको यह प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है तथा जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत्‌के रचयिता, दिव्यप्रकाशरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्य-पाप—दोनोंसे रहित होकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।'

वह सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वर सब इन्द्रियोंसे रहित होकर भी इन्द्रियोंके

विषयोंको जाननेवाला है। वह सबकी उत्पत्ति और पालन करनेवाला होकर भी अकर्ता ही है। उस सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अकारण दयालु और परम प्रेमी हृदयस्थित परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उस भजनेयोग्य परमात्माकी शरण लेनेसे मनुष्य सारे दुःख, क्लेश, पाप और विकारोंसे छूटकर परम शान्ति और परम गतिस्वरूप मुक्तिको प्राप्त करता है, इसलिये सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् उस सर्वसुहृद् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे उसीकी शरण लेनी चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद्में परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासनाका वर्णन विस्तारसहित आता है; उसमेंसे भी कुछ मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥

(३।१७)

'जो परम पुरुष परमेश्वर समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है तथा सबका स्वामी, सबका शासक और सबसे बड़ा आश्रय है, उसकी शरण जाना चाहिये।'

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥

(३।२०)

'वह सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म तथा बड़ेसे भी बहुत बड़ा परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफामें छिपा हुआ है, सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी कृपासे जो मनुष्य उस संकल्परहित परमेश्वरको और उसकी महिमाको देख लेता है अर्थात् जान लेता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर

****

आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

और भी कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥

(४।१०-११)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये; उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्य-समुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है, उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तुति करनेयोग्य परमदेव परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस मुक्तिरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥

(४।१४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्‌को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(६।११-१२)

****

'वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है, वही सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है तथा जो अकेला ही बहुत-से वास्तवमें अक्रिय जीवोंका शासक है और एक प्रकृतिरूप बीजको अनेक रूपोंमें परिणत कर देता है, उस हृदयस्थित परमेश्वरका जो धीर पुरुष निरन्तर अनुभव करते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।'

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँ्ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(६।१८)

'जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्माको समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उस परमात्मविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरण लेता हूँ।'

जिसमें साधनमें भी भेद हो और फल (परिणाम) में भी भेद हो, ऐसी भेदोपासनाका वर्णन ऊपर किया गया; अब साधनमें तो भेद हो, किन्तु फलमें अभेद हो, ऐसी उपासनापर विचार करते हैं।

शास्त्रोंमें भेदोपासनाके अनुसार चार प्रकारकी मुक्ति बतलायी गयी है—१. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य और ४. सायुज्य। इनमेंसे पहली तीन तो साधनमें भी भेद और फलमें भी भेदवाली हैं; किन्तु सायुज्य-मुक्तिमें साधनमें तो भेद है, पर फलमें भेद नहीं रहता। भगवान्‌के परमधाममें जाकर वहाँ निवास करनेको 'सालोक्य' मुक्ति कहते हैं; जो वात्सल्य आदि भावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सालोक्य' मुक्तिको पाते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर उनके समीप निवास करनेको 'सामीप्य' मुक्ति कहते हैं; जो दासभावसे या माधुर्यभावसे भगवान्‌की

****

उपासना करते हैं, वे 'सामीप्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर भगवान्‌के-जैसे स्वरूपवाले होकर निवास करनेको 'सारूप्य' मुक्ति कहते हैं; जो सखाभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सारूप्य' मुक्ति पाते हैं। इन सब भक्तोंमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनरूप भगवत्सामर्थ्यके सिवा भगवान्‌के सब गुण आ जाते हैं। भगवान्‌के स्वरूपमें अभेदरूपसे विलीन हो जानेको 'सायुज्य' मुक्ति कहते हैं। जो शान्तभावसे (ज्ञानमिश्रित भक्तिसे) भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सायुज्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं तथा जो वैरसे, द्वेषसे अथवा भयसे भगवान्‌को भजते हैं, वे भी 'सायुज्य' मुक्तिको पाते हैं। जिस प्रकार नदियोंका जल अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर समुद्र ही हो जाता है, इसी प्रकार ऐसे साधक भगवान्‌में लीन होकर भगवत्स्वरूप ही हो जाते हैं। इसके लिये उपनिषदोंमें तथा अन्य शास्त्रोंमें जगह-जगह अनेक प्रमाण मिलते हैं। कठोपनिषद्‌में यमराज नचिकेतासे कहते हैं—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

(२।१।१५)

'जिस प्रकार निर्मल जलमें मेघोंद्वारा सब ओरसे बरसाया हुआ निर्मल जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार हे गौतमवंशीय नचिकेता! एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ हैं—इस प्रकार जाननेवाले मुनिका आत्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमात्मामें मिलकर तद्रूप हो जाता है।'

मुण्डकोपनिषद्‌में भी कहा है—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥

(३।२।१)

'वह निष्काम-भाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध (प्रकाशमान)

ब्रह्मधामको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो भी कोई निष्काम साधक परम पुरुषकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।

(३।२।८-९)

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है। निश्चय ही जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है; उसके कुलमें ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता; वह शोकसे पार हो जाता है, पाप-समुदायसे तर जाता है, हृदयकी गाँठोंसे सर्वदा छूटकर अमृत हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युसे रहित होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

जो मनुष्य माया (प्रकृति), जीव और परमेश्वरको भिन्न-भिन्न समझकर उपासना करता है और यह समझता है कि ईश्वरकी यह प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न है, क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से अभिन्न होती है एवं जीव भिन्न होते हुए भी ईश्वरका अंश होनेके कारण अभिन्न ही हैं, इसलिये प्रकृति और जीव—दोनोंसे परमात्मा भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही हैं, वह पुरुष भेदरूपसे साधन करता हुआ भी अन्तमें अभेदरूपसे ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह बात भी शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें मिलती है। जैसे—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

(श्वेताश्वतर० १।९-१०)

'सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दोनों परमात्मा और जीवात्मा अजन्मा हैं तथा भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्य-सामग्रीसे युक्त और अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है; (इन तीनोंमें जो ईश्वर-तत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है) क्योंकि वह परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपोंवाला और कर्तापनके अभिमानसे रहित है। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको ब्रह्मरूपमें प्राप्त कर लेता है (तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है)। तथा प्रकृति तो विनाशशील है, इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है, इन विनाशशील जड-तत्त्व और चेतन आत्मा—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है, इस प्रकार जानकर उस ईश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है।'

यहाँतक भेदोपासनाके दोनों प्रकारोंको उपनिषद्के अनुसार संक्षेपमें बतलाकर अब अभेदोपासनापर विचार करते हैं—

अभेदोपासना

अभेद-उपासनाके भी प्रधान चार प्रकार हैं। उनमेंसे पहले दो प्रकार 'तत्' पदको और बादके दो प्रकार 'त्वम्' पदको लक्ष्य करके संक्षेपमें नीचे बतलाये जाते हैं—

१. इस चराचर जगत्में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है; कोई भी वस्तु एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न नहीं है। इस प्रकार उपासना करे।

२. वह निर्गुण निराकार निष्क्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभङ्गुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है—इस प्रकार उपासना करे।

****

३. जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ। इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

४. जो नाशवान् क्षणभङ्गुर मायामय दृश्यवर्गसे अतीत, निराकार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

अब इनको अच्छी प्रकार समझनेके लिये उपनिषदोंके प्रमाण देकर कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है।

(१) सर्गके आदिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे। उन्होंने विचार किया कि 'मैं प्रकट होऊँ और अनेक नाम-रूप धारण करके बहुत हो जाऊँ', **'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति'** (तैत्तिरीयोपनिषद् २।६) इस प्रकार वह ब्रह्म एक ही बहुत रूपोंमें हो गये। इसलिये यह जो कुछ भी जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम जगत् है, वह परमात्माका ही स्वरूप है। श्रुति कहती है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म
पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै-
वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुण्डक० २।२।११)

'यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है; यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।'

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥

(मुण्डक० ३।२।५)

****

'सर्वथा आसक्तिरहित और विशुद्ध अन्तःकरणवाले ऋषिलोग इस परमात्माको पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं, अपने-आपको परमात्मामें संयुक्त कर देनेवाले वे ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्माको सब ओरसे प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं।'

सर्वं ँ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥

(माण्डूक्य० २)

'क्योंकि यह सब-का-सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणोंवाला आत्मा है, वह आत्मा भी परब्रह्म परमात्मा है।'

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

(छान्दोग्य० ३। १४। १)

'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय—उस ब्रह्मसे ही है—इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे।'

(२) **'तत्'** पदके अर्थ ब्रह्मके स्वरूपका, जो कुछ जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम चराचर संसार है, वह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार निरूपण किया गया। अब उसी **'तत्'** पदके लक्ष्यार्थ ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपका वर्णन किया जाता है। वह निर्गुण-निराकार अक्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभङ्गुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है। जो कुछ यह दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह सब अज्ञानमूलक है। वास्तवमें एक विज्ञानानन्दघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारके अनुभवसे वह इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे मुक्त होकर अनन्त विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक जगह बतलायी गयी है।

कठोपनिषद्में परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

(१।३।१५)

'जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (असीम), महत्तत्त्वसे परे एवं सर्वथा सत्य तत्त्व है, उस परमात्माको जानकर मनुष्य मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है।'

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥

(२।१।११)

'यह परमात्मतत्त्व शुद्ध मनसे ही प्राप्त किये जानेयोग्य है; इस जगत्में एक परमात्माके अतिरिक्त नाना—भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं है, इसलिये जो इस जगत्में नानाकी भाँति देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है।'

मुण्डकोपनिषद्में भी कहा है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

(३।१।८)

'वह निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा न तो नेत्रोंसे, न वाणीसे और न दूसरी इन्द्रियोंसे ही ग्रहण करनेमें आता है तथा तपसे अथवा कर्मोंसे भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता; उस अवयवरहित परमात्माको तो विशुद्ध अन्तःकरणवाला साधक उस विशुद्ध अन्तःकरणसे निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञानकी निर्मलतासे अनुभव करता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में भी कहा है—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

(२।१।१)

'ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है; उसी भावको व्यक्त करनेवाली यह श्रुति कही गयी है—ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।'

(३) **'तत्'** पदकी उपासनाके प्रकारका वर्णन करके अब **'त्वम्'** पदकी उपासनाका प्रकार बतलाया जाता है। जो कुछ जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वह मैं हूँ। इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्माको अर्थात् अपने-आपको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको ओतप्रोत देखना चाहिये। अभिप्राय यह है कि 'जो भी कुछ है, सब मेरा ही स्वरूप है' इस प्रकारका अभ्यास करनेवाला साधक शोक और मोहसे पार होकर विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें जगह-जगह मिलती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६।२९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

ईशावास्योपनिषद्‌में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(६।७)

'परन्तु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह किसीसे घृणा नहीं करता—सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे ?'

'इस प्रकारसे जब आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सब आत्मा ही हो जाता है, तब फिर एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस मनुष्यको कहाँ मोह है और कहाँ शोक है अर्थात् सबमें एक विज्ञान आनन्दमय परब्रह्म परमात्माका अनुभव करनेवाले पुरुषके शोक-मोह आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये छान्दोग्य-उपनिषद्में एक इतिहास आता है। अरुणका पौत्र और उद्दालकका पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके पास विद्यालाभके लिये गया और वहाँसे वह विद्या पढ़कर चौबीस वर्षकी अवस्था होनेपर घर लौटा। वह अपनेको बुद्धिमान् और व्याख्यानदाता मानता हुआ अनम्रभावसे ही घरपर आया तथा उसने बुद्धिके अभिमानवश पिताको प्रणाम नहीं किया। इसपर उसके पिताने उससे पूछा—

श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः। येनाश्रुतँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।

(६।१।२-३)

'हे श्वेतकेतु ! हे सोम्य ! तू जो अपनेको ऐसा महामना और पण्डित मानकर अविनीत हो रहा है, सो क्या तूने वह आदेश आचार्यसे पूछा है, जिस आदेशसे अश्रुत श्रुत हो जाता है, बिना विचारा हुआ विचारमें आ जाता है अर्थात् बिना निश्चय किया हुआ निश्चित हो जाता है और बिना जाना हुआ ही विशेषरूपसे जाना हुआ हो जाता है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा कि 'भगवन् ! वह आदेश कैसा है।' तब उद्दालक बोले—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातँ्स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

(६।१।४)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा समस्त मृत्तिकामय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।'

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातँ्स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।

(६।१।५)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण) का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।'

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातँ्स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवँ् सोम्य स आदेशो भवतीति।

(६।१।६)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक नखनिकृन्तन (नहन्ना) अर्थात् लोहेके ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; हे सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश है।'

यह सुनकर श्वेतकेतु बोला—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाँ्स्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच।

(६।१।७)

'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते। यदि वे जानते तो

मुझसे क्यों न कहते। अब आप ही मुझे अच्छी तरह बतलाइये।' तब पिताने कहा—'अच्छा सोम्य! बतलाता हूँ।'

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(६।२।१)

'हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् परमात्मा ही था।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी! मुझको यह विषय और स्पष्ट करके समझाइये।' उद्दालक आरुणि बोले—'हे सोम्य! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है, इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है। जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है। असलमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्य-कारणपरम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं। सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं। यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है। हे श्वेतकेतु! वह 'सत्' वस्तु तू ही है—'**तत्त्वमसि।**'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक वट-वृक्षका फल तोड़कर ला! फिर तुझे समझाऊँगा।' श्वेतकेतु फल ले आया। पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख, इसमें क्या है?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा— 'भगवन्! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं।' ऋषि उद्दालक बोले—'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख, उसमें क्या है?' श्वेतकेतुने बीजको तोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब पिता आरुणि बोले—'हे सोम्य! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म तत्त्वको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है। बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का

आधार है। हे सोम्य ! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वह सत् है और यही आत्मा है। हे श्वेतकेतु ! वह 'सत्' तू ही है—'**तत्त्वमसि**' (६। १२। ३)।

इस प्रकार उद्दालकने अनेक दृष्टान्त और युक्तियोंसे इस तत्त्वको विस्तारसे समझाया है, किंतु यहाँ उसका कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। पूरा वर्णन देखना हो तो छान्दोग्य-उपनिषद्में देखना चाहिये।

उपर्युक्त विषयके सम्बन्धमें बृहदारण्यक-उपनिषद्में भी इस प्रकार कहा है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवँ सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदँ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाँ स भवति। (१। ४। १०)

'पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही अनुभव किया कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' अतः वह सर्व हो गया। उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी जिसने उसे जाना, वही तद्रूप हो गया। उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी'। उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।'

उपर्युक्त विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्में भी एक इतिहास मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्यके दो पत्नियाँ थीं—एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीसे कहा—'मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर संन्यास-आश्रममें जानेवाला हूँ, अतः सम्पत्तिका बँटवारा करके तुमको और कात्यायनीको दे दूँ तो ठीक है।'

मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमृतस्वरूप हो सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्व (परमात्मा) की तो आशा है नहीं।' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मैं अमृतस्वरूप नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी? श्रीमान्, जो कुछ अमृतत्वकी प्राप्तिका साधन हो, वही मुझे बतलायें।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'धन्य है। अरी मैत्रेयी! तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तू प्रिय बात कह रही है। अच्छा, मैं तुझे उसकी व्याख्या करके समझाऊँगा। तू मेरे वाक्योंके अभिप्रायका विचार करना।'

याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदँ् सर्वं विदितम्।

(२।४।५)

'अरी मैत्रेयी! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है।'

तथा—

इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदँ् सर्वं यदयमात्मा।

(२।४।६)

'हे मैत्रेयी! यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है।'

एवं—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति

तदितर इतरँ् शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदँ् सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।

(२।४।१४)

'जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यसे बोलता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्यको जानता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किससे बातचीत करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने ? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसको किसके द्वारा जाने ? हे मैत्रेयी ! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ?'

इस प्रकार बृहदारण्यक-उपनिषद्‌के दूसरे तथा चौथे अध्यायमें यह प्रसङ्ग विस्तारसे आया है, यहाँ तो उसका कुछ अंश ही दिया गया है।

(४) जो नाशवान्, क्षणभङ्गुर, मायामय दृश्यवर्गसे रहित निराकार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है; इस प्रकार उस निराकार निर्विशेष विज्ञानानन्दघन परमात्माको एकीभावसे जानकर मनुष्य उसे प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। (बृहदारण्यक० ४।४।६)

'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

***

इस विषयका रहस्य समझनेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्में एक इतिहास मिलता है। एक बार राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाला यज्ञ किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशोंके बहुत-से ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस समय राजा जनकने यह जाननेकी इच्छासे कि इन ब्राह्मणोंमें कौन सबसे बढ़कर प्रवचन करनेवाला है, अपनी गोशालामें ऐसी दस हजार गौएँ दान देनेके लिये रोक लीं, जिनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण बँधा था और उन ब्राह्मणोंसे कहा—'पूजनीय ब्राह्मणो ! आपमें जो ब्रह्मिष्ठ हों, वे इन गौओंको ले जायँ।' ब्राह्मणोंने राजाकी बात सुन ली; किंतु उनमें किसीका साहस नहीं हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने ब्रह्मचारीसे उन गौओंको ले जानेके लिये कहा। वह उन्हें ले चला। इससे वे सब ब्राह्मण कुपित हो गये और जनकके होता अश्वलने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'याज्ञवल्क्य ! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं।' यह सुनकर क्रमशः अश्वल, आर्तभाग और भुज्युने उनसे अनेकों प्रश्न किये और महर्षि याज्ञवल्क्यने उनका भलीभाँति समाधान किया।

फिर चाक्रायण उषस्तने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।' याज्ञवल्क्यने कहा—

एष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः।

(३।४।१)

'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।' उषस्तने पूछा—'वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह

****

तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो अपानसे अपानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।'

उषस्तने फिर पूछा कि वह सर्वान्तर कौन-सा है। तब याज्ञवल्क्य पुनः बोले—

'.....**सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारँ् शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम।**

(३।४।२)

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। तू उस दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकता, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकता, मतिके मन्ताका मनन नहीं कर सकता, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकता। तेरा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है। यह सुनकर चाक्रायण उषस्त चुप हो गया।'

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति।

(३।५।१)

'इसके पश्चात् कौषीतकेय कहोलने 'हे याज्ञवल्क्य!' (इस प्रकार सम्बोधित करके कहा—) 'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।' कहोलने पूछा—'याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है।' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है (वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है)।'

फिर आरुणि उद्दालकने याज्ञवल्क्यसे कहा—'यदि तुम उस सूत्र और अन्तर्यामीको नहीं जानते हो और फिर भी ब्रह्मवेत्ताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा—'मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ। हे गौतम ! वायु ही वह सूत्र है, इस वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुँथे हुए हैं।' तब इसका समर्थन करते हुए उद्दालकने अन्तर्यामीका वर्णन करनेको कहा।

याज्ञवल्क्यने कहा—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः।

(३।७।३)

'जो पृथ्वीमें रहनेवाला पृथ्वीके भीतर है; जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।'

तथा—

अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम।

(३।७।२३)

'वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेषरूपसे जाननेवाला है। यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् है। यह सुनकर अरुणपुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया।'

तदनन्तर वाचक्नवी गार्गीने तथा शाकल्य विदग्धने अनेकों प्रश्न किये, जिनके उत्तर याज्ञवल्क्यजीने तुरंत दे दिये। अन्तमें उन्होंने शाकल्यसे

कहा—'अब मैं तुमसे उस औपनिषद पुरुषको पूछता हूँ, यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया नहीं बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये उसका मस्तक गिर गया।

फिर याज्ञवल्क्यने कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे प्रश्न करे अथवा आपसे मैं प्रश्न करूँ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ।

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्में और भी कहा है—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयँ् हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।

(४।४।२५)

'वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत, अभय एवं ब्रह्म है, निश्चय ही ब्रह्म अभय है, जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य अभय ब्रह्म ही हो जाता है।'

यह **'त्वम्'** पदके लक्ष्यार्थ समस्त दृश्यवर्गसे अतीत आत्मस्वरूप निर्विशेष ब्रह्मकी उपासनापर संक्षिप्त विचार हुआ।

ऊपर बतलायी हुई इन उपासनाओंमेंसे किसीका भी भलीभाँति अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। पहले साधक भेद या अभेद—जिस भावसे उपासना करता है, वह अपनी रुचि और समझके अनुसार तथा किसीके द्वारा उपदिष्ट होकर साधन आरम्भ करता है, परन्तु यदि उसका लक्ष्य सचमुच परमात्माको प्राप्त करना है तो वह चाहे जिस भावसे उपासना करे, अन्तमें उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि सबका अन्तिम परिणाम एक ही है। गीतामें भी भगवान्ने बतलाया है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(५।५)

'ज्ञानयोगियोंके द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

और भी कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(१३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

गीता, उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जितने साधन बतलाये हैं, उन सबका फल—अन्तिम परिणाम एक ही है और वह अनिर्वचनीय है, जिसे कोई किसी प्रकार भी बतला नहीं सकता। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उससे वह अत्यन्त विलक्षण है।

इस प्रकार यहाँ सगुण-निर्गुणरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी भेदोपासना एवं अभेदोपासनापर बहुत ही संक्षेपसे विचार किया गया है। उपनिषदुक्त उपासनाका विषय बहुत ही विस्तृत और अत्यन्त गहन है। स्थान-सङ्कोचसे यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। सुरुचि-सम्पन्न जिज्ञासु पाठक इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहें तो वे उपनिषदोंमें ही उसे देखें और उसका यथायोग्य मनन एवं धारण कर जीवनको सफल करें।

——★——

तत्त्व-विचार

प्रत्येक मनुष्यको इन प्रश्नोंपर विचार करना चाहिये कि (१) प्रकृति क्या है? (२) पुरुष किसे कहते हैं? (३) संसार क्या है? (४) हम कौन हैं? (५) राग-द्वेष, काम-क्रोधादि जीवके अन्तःकरणमें रहते ही हैं या इनका समूल नाश भी हो सकता है? (६) संसारमें हमारा क्या कर्तव्य है? (७) परमात्मा, जीव, प्रकृति और संसार—ये अनादि हैं या आदिवाले हैं? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है और (८) बन्धन एवं मोक्ष क्या है? इन आठ प्रश्नोंपर गहरा विचार करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है और उत्तरोत्तर ज्ञानके बढ़नेसे आत्मामें इनका यथार्थ बोध हो जाता है—जीवन कृतकृत्य हो जाता है। थोड़े शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। यद्यपि इन प्रश्नोंका विषय बहुत ही गहन है और सभी प्रश्न अति महत्त्वके हैं, इनपर विवेचन करना साधारण बात नहीं है; वास्तवमें इनका तत्त्व महात्मा पुरुष ही जानते हैं तथापि मैं साधारण बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंपर अपने मनके विचार संक्षेपमें पाठकोंके सामने उपस्थित कर रहा हूँ और विनय करता हूँ कि आपलोग यदि उचित समझें तो इस विषयपर विचार करें।

(१) प्रकृति, (२) पुरुष और (३) संसार

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३।१९)

'हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको तू अनादि जान।' इनमें पुरुष तो अनादि और अनन्त है तथा प्रकृति अनादि, सान्त है। पुरुष सर्वव्यापी, नित्य, चेतन एवं आनन्दरूप है और प्रकृति विकारवाली होनेके

****

कारण जड, अनित्य और दुःखरूप है। यह समस्त जडवर्ग संसार प्रकृतिका ही विकार है। प्रकृति जब अक्रियरूप हो जाती है, तब प्रकृतिका विकाररूप यह जडवर्ग संसार प्रकृतिमें लय हो जाता है, इसीको महाप्रलय कहते हैं और जब यह प्रकृति पुरुषके सकाशसे क्रियावाली होती है तब सर्गके आदिमें इससे इस जडवर्ग संसारका विस्तार होता है। इसीलिये कार्य और करण*के विस्तारमें प्रकृतिको ही हेतु बतलाया गया है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

(गीता १३ । २०)

सबसे पहले प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, इस महत्तत्त्वको ही समष्टि-बुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण जीवोंकी व्यष्टि-बुद्धियाँ इस समष्टि-बुद्धिका ही विस्तार है। तदनन्तर इस महत्तत्त्वसे समष्टि-अहङ्कार उत्पन्न होता है, समष्टि-अहङ्कारसे सङ्कल्पात्मक समष्टि-मनकी उत्पत्ति होती है और उसी अहङ्कारसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, इस प्रकार क्रमसे पाँच सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, ये ही इस जडवर्ग संसारके कारण हैं। कोई-कोई महर्षि इनको सूक्ष्म तन्मात्राएँ और इन्द्रियोंके कारणभूत अर्थ भी कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि इन सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति अहङ्कारसे बतलाते हैं और भगवान् कपिल महत्तत्त्वसे। वास्तवमें इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि समष्टि-बुद्धि, समष्टि-अहङ्कार और समष्टि-मन—ये तीनों अन्तःकरणके ही अवस्थाभेदसे तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं। तदनन्तर इन सूक्ष्म भूतोंसे या कारणरूप तन्मात्राओंसे पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और इन्द्रियोंके पाँच विषयोंकी

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इनका नाम कार्य है। बुद्धि, अहङ्कार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—इन १३ का नाम करण है।

****

उत्पत्ति अथवा विस्तार होता है। या यों कहिये कि यह जडवर्ग संसार उन पञ्च सूक्ष्म भूतोंका ही विस्तार या कार्य है।

पुरुषके भी दो भेद हैं—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा एक है परन्तु जीव असंख्य हैं। परमात्माके दो स्वरूप हैं—एक गुणातीत, जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं, जो सदा ही माया और मायाके कार्य संसारसे अतीत है एवं जो अनादि और अनन्त है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २। १), **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृह० ३। ९। २८), **'आनन्दो ब्रह्मेति'** (तै० ३। ६), **'रसो वै सः'** (तै० २। ७), **'एकमेवाद्वितीयम्'** (छा० ६। २। १), **'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पत्······एषोऽस्य परम आनन्दः'** (बृह० ४। ३। ३२) आदि विशेषणोंसे श्रुतियाँ जिसका वर्णन करती हैं। दूसरा सगुण ब्रह्म जो मायाविशिष्ट ईश्वर, महेश्वर, सृष्टिकर्ता, परमेश्वर प्रभृति अनेक नामोंसे श्रुति-स्मृतियोंमें वर्णित है। वस्तुतः विज्ञानानन्दघन निराकार ब्रह्म और महेश्वर सगुण ब्रह्म सर्वथा अभिन्न हैं, दो नहीं हैं। परमात्माके जिस अंशमें सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमय संसार है, श्रुति-स्मृतियोंने उसको सगुण ब्रह्म और जहाँ त्रिगुणमयी प्रकृति और संसारका अत्यन्त अभाव है,उसको गुणातीत विज्ञानानन्दघन नामसे वर्णन किया है। वास्तवमें 'परमात्मा' शब्दसे सगुण-निर्गुण दोनों मिलकर समग्र ब्रह्म ही समझना चाहिये। यों तो सगुण ब्रह्मके सम्बन्धमें भी दो भेदोंकी कल्पना की गयी है। एक निराकार सर्वव्यापी सृष्टिकर्ता ईश्वर और दूसरा साकार ब्रह्म—ब्रह्मका अवतार, जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रभृति। यहाँ सर्वव्यापी निराकार सगुण ब्रह्ममें और अपनी लीलासे साकाररूपमें प्रकट होनेवाले श्रीराम-कृष्ण आदि अवताररूपी भगवान्में कोई अन्तर या भिन्नता नहीं है। कुछ लोग बिना समझे-बूझे कह दिया करते हैं कि सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म साकार नहीं हो सकते। इन लोगोंके सम्बन्धमें यह कहनेका तो मुझे अधिकार नहीं कि 'ऐसा कहना उनकी भूल है' हाँ,

****

इतना जरूर कहा जाता है कि इन्हें अपने इस सिद्धान्तपर फिरसे विचार जरूर करना चाहिये। जिस प्रकार व्यापक निराकार अव्यक्त अग्नि तथा किसी स्थानविशेषमें प्रज्वलित व्यक्त अग्निमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, एक ही अग्निके दो रूप हैं, इसी प्रकार निराकार और साकार परमात्माको भी समझना चाहिये। साधनोंद्वारा सर्वव्यापी परमात्माका सब जगह व्याप्त रहते हुए ही प्रज्वलित अग्निकी भाँति प्रकट हो जाना शास्त्र-सम्मत और युक्तियुक्त ही है। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' इसके अतिरिक्त केनोपनिषद्‌में इन्द्र, अग्नि आदि देवोंके सामने ब्रह्मका यक्षरूपमें प्रकट होना प्रसिद्ध है। किसी-किसीका कहना है कि जब भगवान् इस प्रकार एक जगह प्रकट हो जाते हैं तब अन्य सब स्थानोंमें तो उनका अभाव हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा कथन भगवान्‌के तत्त्वको न जाननेके कारण ही होता है। हम देखते हैं कि यह बात तो अग्निमें भी चरितार्थ नहीं होती। जब पत्थर या दियासलाईकी रगड़से अग्नि प्रकट होती है, निराकारसे साकाररूपमें परिणत होती है, तब क्या अन्य सब स्थानोंमें उसका अस्तित्व मिट जाता है? फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है? भगवान् तो ऐसे सर्वव्यापी हैं कि अग्नि आदि पञ्चभूतोंकी कारणरूपा प्रकृति भी उनके किसी एक अंशमें स्थित है। ऐसे परमेश्वरके सम्बन्धमें इस प्रकारका कुतर्क करना अपनी बुद्धिका ही परिचय देना है।

अब जीवात्माकी बात रही। भलीभाँति विचारकर देखनेसे तो यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि श्रुति-स्मृतियोंमें

****

जीवात्माको परमात्माका अंश बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५।७)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।' गोसाईंजी भी ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** कहकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं। अंश अंशीसे उसी प्रकार भिन्न नहीं होता, जिस प्रकार तरंगें समुद्रसे भिन्न दीखती हुई भी वस्तुतः उससे भिन्न नहीं हैं।

जीवके भी दो भेद हैं—एक बद्ध, दूसरा मुक्त। बद्ध वह है जो शरीरकी उत्पत्ति और विनाशमें अज्ञानके कारण आत्माका जन्मना-मरना मानता है और मुक्त उसे कहते हैं जिसके अज्ञानका नाश हो गया हो और जो भावी आवागमनके चक्रसे सर्वथा छूट गया हो। वास्तवमें तो ऐसे पुरुषकी जीव-संज्ञा ही नहीं है। यह भेद तो केवल समझानेके लिये किया गया है। उसकी स्थिति तो अनिर्वचनीय ही होती है।

मुक्ति भी दो प्रकारकी है—एक, निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदरूपसे मिल जाना और दूसरी, साकार सगुण ब्रह्मके परमधाममें (जिसको परमधाम, सत्यलोक आदि नामोंसे शास्त्रोंने निर्देश किया है।) जाकर सगुण पुरुषोत्तम भगवान्‌की सन्निधिमें निवास करना। इस दूसरी प्रकारकी मुक्तिके भी चार भेद हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। कोई-कोई महानुभाव सार्ष्टि नामक एक प्रकारकी मुक्ति और बताकर इसके पाँच भेद करते हैं, परन्तु 'सार्ष्टि' मुक्ति 'सारूप्य'के अन्तर्गत आ जाती है।

जबतक जीवको अज्ञान रहता है, तभीतक उसकी 'बद्ध' संज्ञा है। जब उसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब उसकी 'मुक्त' संज्ञा हो जाती है। परमात्माके चेतन अंशकी यह जीव-संज्ञा अनादि और अन्तवाली है अर्थात् है तो अनादिकालसे परन्तु मिट सकती है। जब यह जीव स्थूल

शरीरमें आता है और जाग्रत्-अवस्थामें रहता है, उस समय इसका चौबीस[1] तत्त्वोंवाले तीनों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) शरीर और पाँचों[2] कोशोंसे सम्बन्ध रहता है। जब प्रलय या स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है, तब इसका प्रकृतिसहित सत्रह[3] तत्त्वोंके सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध रहता है। जब यह जीव ब्रह्माजीके शान्त होनेपर महाप्रलयमें या सुषुप्ति-अवस्थामें रहता है, तब इसका केवल प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है। इसीको कारण-शरीर कहते हैं जो मूल-प्रकृतिका एक अंश है। सर्गके अन्तमें गुण और कर्मोंके संस्कारोंका समुदाय कारणरूपा प्रकृतिमें लय हो जाता है और सर्गके आदिमें पुनः उसीसे प्रकट हो जाता है और उसी गुण-कर्म-समुदायके अनुसार ही परमेश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको संसारमें रचते हैं। (गीता ४। १३) भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

(गीता ९। ७)

'हे अर्जुन! कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लय होते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ।'

जीवमें जो चेतनता है वह परमात्माका अंश होनेसे वस्तुतः परमात्म-स्वरूप ही है, अतः उस चेतनत्वको अनादि और अनन्त ही मानना चाहिये। परन्तु जीवके साथ जो प्रकृतिका सम्बन्ध है वह अनादि और सान्त है,

---

१. चौबीस तत्त्व ये हैं—पञ्चमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्रा। (गीता १३। ५)

२. पञ्चकोश ये हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। स्थूलमें तीनों शरीर और पाँचों कोश हैं। सूक्ष्ममें दो शरीर तथा 'अन्नमय'को छोड़कर शेष चार कोश हैं एवं कारण-शरीरमें केवल आनन्दमय कोश है।

३. मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्रा—ये सत्रह तत्त्व हैं। अहङ्कार बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता है और प्रकृति सबमें व्यापक है ही। कोई-कोई पञ्चतन्मात्राके स्थानमें पञ्चप्राण बतलाते हैं, किंतु पञ्चप्राण, सूक्ष्म वायुके अन्तर्गत होनेसे उन्हें तन्मात्राओंके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये।

क्योंकि प्रकृति स्वयं ही अनादि एवं सान्त है।

प्रकृतिके दो भेद हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या। विद्याके द्वारा परमात्मा संसारकी रचना करते हैं और अविद्याके द्वारा जीव मोहित हो रहे हैं। जब जीव अविद्याजनित रज और तमको लाँघकर केवल सत्त्वमें स्थित हो जाता है, तब उसके अन्तःकरणमें विद्या अर्थात् ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। फिर उस ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर वह ज्ञान भी स्वयमेव शान्त हो जाता है। जैसे काठसे उत्पन्न अग्नि काठको जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है, इसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरणमें उत्पन्न ज्ञान, अज्ञानको मिटाकर स्वयं भी मिट जाता है। उस समय यह जीव विद्या और अविद्या उभयरूपा प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त होकर सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको अभिन्नरूपसे प्राप्त हो जाता है। इसीको अभेदमुक्ति कहते हैं। फिर उसकी दृष्टिमें न ज्ञान है और न अज्ञान ही है। वास्तवमें उसके कोई दृष्टि ही नहीं है। वह सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित केवल शुद्ध चेतनस्वरूप है। उसके स्वरूपका वर्णन हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह वाणीसे अतीत है। वर्णनकी बात तो अलग रही, उसकी स्थितिको मन, बुद्धिसे समझ लेना भी अत्यन्त दुर्गम है, क्योंकि वह मन-बुद्धिसे परे है, उसके सम्बन्धमें जो कुछ भी वर्णन, मनन या निश्चय किया जाता है, वस्तुतः वह इन सबसे अत्यन्त विलक्षण है। उसकी इस विलक्षणताको समझ लेना मनुष्यकी बुद्धिसे बाहरकी बात है। जिसको वह स्थिति प्राप्त है, वही इस बातको समझता है। वस्तुतः यह कहना भी केवल समझानेके लिये ही है।

एक ही निराकार आकाश जिस प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे उनमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होता है और जिस प्रकार एक ही जल विशेष सर्दीके कारण ओलोंके रूपमें परिणत होकर अनेक रूपमें भासता है, उसी प्रकार एक ही चेतन प्रकृतिके सम्बन्धसे अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत हो रहा है। यद्यपि घटाकाश और महाकाशमें कोई भिन्नता

****

नहीं तथापि उपाधिभेदसे वह आकाश विभिन्न नाना रूपोंमें दिखलायी पड़ता है। परन्तु जिस प्रकार घटाकाश महाकाशका अंश है, ठीक उसी प्रकार जीव परमात्माका अंश नहीं है, क्योंकि आकाश निराकार, निरवयव तो है परन्तु जड होनेके कारण उसमें जैसे देशके विभागकी कल्पना की जा सकती है, विज्ञानानन्दघन परमात्मा देश और कालसे सर्वथा अतीत होनेके कारण उसमें आकाशकी भाँति अंशांशी-भावकी कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तवमें परमात्माके अंशांशी-भावकी कल्पनाको बतलानेवाला संसारमें कोई दूसरा उदाहरण है ही नहीं। दूसरा स्वप्नका उदाहरण भी दिया जाता है कि 'जैसे एक ही जीव स्वप्नावस्थामें मनःकल्पित अपने अनेक रूपोंको देखकर सुख-दुःखको प्राप्त होता है; परंतु स्वप्नकी सृष्टिमें प्रतीत होनेवाले वे अनेक प्राणी और पदार्थ उसीकी अपनी कल्पना होनेके कारण उससे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार संसारके सारे जीव भी ईश्वरकी कल्पना होनेसे उसके ही अंश हैं।' पर यह उदाहरण भी समीचीन नहीं, क्योंकि जीव अज्ञानके कारण निद्राके वशीभूत हो स्वप्नमें कल्पित सृष्टिका अनुभव करता है, परन्तु सच्चिदानन्दघन परमात्मामें यह बात नहीं। परमात्माके यथार्थ अंशांशी-भावकी स्थिति तो परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेसे ही समझमें आ सकती है। उदाहरणों और शास्त्रोंसे जो बातें जानी जाती हैं, वे तो केवल शाखाचन्द्र-न्यायसे तत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये हैं। वास्तविक स्वरूप तो अत्यन्त ही विलक्षण है।

प्रकृति, प्रकृतिके विकार संसार और पुरुष अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्माका वर्णन संक्षेपमें किया जा चुका। अब अगले प्रश्नोंपर विचार करना है।

(४) हम कौन हैं ?

जीवात्मा ही इस मनुष्य-शरीरमें 'अहं' अर्थात् 'हम' शब्दका वाच्य है। वह वस्तुतः नित्य, चेतन और आनन्दरूप है तथा इस चौबीस तत्त्वोंवाले

जड-दृश्य शरीरसे अत्यन्त विलक्षण है। शरीर अनित्य, क्षणभङ्गुर और नाशवान् है, अज्ञानसे इसकी स्थिति और ज्ञानसे ही इसका अन्त है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने सब शरीरोंको अन्तवाले बतलाया है।

'अन्तवन्त इमे देहाः' (गीता २। १८)

परन्तु मायाके कार्यरूप शरीरके साथ सम्बन्ध होनेके कारण अविनाशी, अप्रमेय, नित्य-चेतन जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता और नाना प्रकारकी योनियोंमें गमनागमन करनेवाला कहा गया है। यथा—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

अर्थात् 'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

जबतक इसको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो जाती, तबतक अनन्तकोटि जन्मोंके बीत जानेपर भी आवागमनरूपी दुःखसे इसका छुटकारा नहीं होता। ज्ञानके द्वारा जिसके अज्ञानका सर्वथा नाश हो गया है, वह पुरुष इस देहके अन्दर रहता हुआ भी मुक्त है। (गीता १३। ३१)

(५) राग-द्वेषादिका नाश हो जाता है

मुक्त पुरुषके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। किसी-किसीका कथन है कि ज्ञानके अनन्तर भी ज्ञानीके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध और सुख-दुःखादि होते हैं एवं किसी-किसीने तो यहाँतक कह डाला है कि प्रारब्धके कारण ज्ञानीमें झूठ, कपट, चोरी और व्यभिचार आदि दुराचार भी रह सकते हैं। परन्तु मेरी साधारण समझके अनुसार इस प्रकार कहना मुनिप्रणीत आर्ष ग्रन्थों एवं युक्तियोंके सर्वथा विरुद्ध है। श्रुति-स्मृति आदि प्रामाणिक प्राचीन

ग्रन्थोंके प्रमाणसे विधि-वाक्योंद्वारा जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें अर्थात् ज्ञानोत्तर-कालमें दुराचारोंका होना किसी महाशयको ज्ञात हो तो वे कृपापूर्वक मुझे अवश्य सूचना दें। हाँ, उनके विरुद्ध तो श्रुति-स्मृतियोंमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

हर्षशोकौ जहाति।

(कठ० १।२।१२)

तरति शोकमात्मवित्।

(छा० ७।१।३)

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

(ईश० ७)

'हर्ष-शोक त्याग देता है,' 'आत्मज्ञानी शोकसे तर जाता है', 'जब सर्वत्र आत्माकी एकताका निश्चय कर लेता है तब वहाँ शोक, मोह कैसा ? अर्थात् शोक-मोह कुछ भी नहीं रहते।'

गीतामें कहा है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(५।२६)

'काम-क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है।'

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

(गीता १२।१७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है।'

बल्कि काम-क्रोधादिको तो भगवान्‌ने साक्षात् नरकके द्वार और

आत्माके नाशकतक बतलाये हैं और इनके अत्यन्त अभाव होनेपर ही आत्माके कल्याणके लिये साधन करनेसे मुक्ति बतलायी है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता १६। २१-२२)

अर्थात् 'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले हैं, यानी अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। क्योंकि हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है। इससे (वह) परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त बाईसवें श्लोकमें 'विमुक्त' शब्द आया है जो काम, क्रोध, लोभके आत्यन्तिक अभावका द्योतक है यानी परमगति चाहनेवालेमें काम-क्रोधादिकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये। काम-क्रोधादिका कारण है आसक्ति। आसक्तिका नाम ही रस या राग है, इसीको सङ्ग भी कहते हैं। भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि 'सङ्ग' से ही 'काम' की उत्पत्ति होती है और क्रोध कामसे उत्पन्न होता है।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

(गीता २। ६२)

'काम-क्रोधादिके कारणरूप इस आसक्तिका परमात्माके साक्षात्कारसे सर्वथा नाश हो जाता है।'

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ (गीता २। ५९)

अर्थात् 'इस पुरुषका राग भी परमात्माका साक्षात्कार होनेपर निवृत्त हो जाता है।'

जब कारणका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब उसके कार्य काम-क्रोधादिका अस्तित्व मानना भारी भोलेपनके अतिरिक्त और क्या है ? जिस कामरूपी कारणका कार्य क्रोध है, उस कामको श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण और साधकके लिये महान् शत्रु बतलाया है और उसे मारनेकी स्पष्ट आज्ञा दी है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

अर्थात् 'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा-अशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है। इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान।'

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४२-४३)

'इन्द्रियोंको परे अर्थात् श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं तथा इन्द्रियोंसे परे मन है एवं मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर तथा बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार।'

अस्मिता, राग, द्वेष और भय—इन चारोंका कारण अविद्या है। अविद्या ही जीवके सुख-दुःखमें हेतु है और उस अविद्याका अभाव होनेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। अविद्यारूप कारणके अभावसे उसके चारों कार्योंका आप ही अभाव हो जाता है। योगदर्शनमें लिखा है—

'तस्य हेतुरविद्या', 'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।'

(२ । २४-२५)

'उस संयोगका हेतु अविद्या है', 'उस अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव हो जाता है। उसका नाम हान है। वही द्रष्टाकी कैवल्य यानी मुक्त-अवस्था है।'

इस अवस्थामें सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, भय आदि विकार रह ही कैसे सकते हैं?

कुछ लोग इन राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिको अन्तःकरणका धर्म मानते हैं और शरीर रहते इनका सर्वथा नाश होना असम्भव बतलाते हैं। परन्तु यह मानना युक्तियुक्त नहीं है; बल्कि श्रुति-स्मृति-शास्त्र-प्रमाणोंसे तो शरीरके रहते हुए ही इनका अभाव होना सिद्ध है। उपर्युक्त विवेचनमें यह बात दिखलायी जा चुकी है। अब यह दिखलाना है कि ये अन्तःकरणके स्वाभाविक धर्म नहीं, किन्तु विकार हैं। क्षेत्रके वर्णन-प्रसङ्गमें भगवान् कहते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

(गीता १३ । ६)

'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतनता और धृति— इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित संक्षेपमें कहा गया।'

इससे इसका विकार होना सिद्ध है और इन विकारोंसे सर्वथा छूटनेका नाम ही मोक्ष है। शास्त्र-प्रमाणोंके अतिरिक्त युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है। भला, यदि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि विकार ही न छूटे तो मुक्ति किस बन्धनसे हुई और ऐसी मुक्तिका मूल्य ही क्या है? यदि सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि स्वाभाविक धर्म होते तो वे धर्मीसे कदापि अलग नहीं हो सकते और धर्मीके नाश होनेपर ही उनका नाश होता, परन्तु ऐसा न होकर अन्तःकरणरूप धर्मीके रहते हुए ही इनका घटना-बढ़ना और नष्ट

होना देखा जाता है। इससे ये धर्म नहीं, किन्तु विकार ही सिद्ध होते हैं। ज्ञानीमें तो ये रहते ही नहीं, परन्तु अज्ञानीके अन्दर भी ये घटते-बढ़ते देखे जाते हैं और इनके घटने-बढ़नेसे अन्तःकरणका घटना-बढ़ना नहीं देखा जाता। वास्तवमें ये धर्म नहीं, किन्तु अविद्याजनित विकार हैं और विवेकसे इनका ह्रास होता है। जब विवेकसे ही ऐसा होता है तब पूर्ण ज्ञानसे तो इनका सर्वथा नाश हो जाना बिलकुल ही युक्तियुक्त है। कुछ लोग चोरी, झूठ, कपट और व्यभिचार आदि पापोंकी उत्पत्ति भी ज्ञानीके प्रारब्धसे मानते हैं और ऐसे प्रारब्धका आरोप करके ज्ञानीके मत्थे भी इन पापोंका होना मढ़ते हैं। मेरी साधारण बुद्धिसे इस प्रकार मानना ज्ञानीपर कलंक लगाना है। ज्ञानीकी तो बात ही क्या है किसी भी मनुष्यके लिये दुराचारोंकी उत्पत्तिमें प्रारब्धको हेतु माननेसे शास्त्र और युक्तियोंके साथ अत्यन्त विरोध उपस्थित हो जाता है। जैसे—

१-'**सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, धर्मान्न प्रमदितव्यम्।**'

(तैत्ति० १।११।१)

—आदि श्रुतिके विधि-वाक्योंका और '**सुरां न पिबेत्**' आदि निषेध-वाक्योंका कोई मूल्य ही नहीं रह जायगा और सारे विधि- निषेधात्मक शास्त्र सर्वथा व्यर्थ हो जायँगे।

२-झूठ, कपट, चोरी-जारी आदि पाप यदि पूर्वकृत पापोंके फलरूप प्रारब्ध हैं तो फिर इनका कभी नाश होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि पापका फल पाप, फिर उस पापका फल पाप, इस प्रकार पापोंकी शृङ्खला कभी टूट ही नहीं सकती यानी अनवस्था-दोष आ जायगा।

३-पापोंका होना प्रारब्धसे मान लेनेपर उनके लिये किसीको कोई दण्ड नहीं मिलना चाहिये। क्योंकि पाप करनेवाला तो बेचारा प्रारब्धवश बाध्य होकर पापोंको करता है फिर वह दण्डका पात्र क्यों समझा जाय। जिस ईश्वरने इस प्रकारके प्रारब्धकी रचना की, असलमें उसीपर यह दोष भी आना चाहिये।

४-काम-क्रोधादि पापोंके फलस्वरूप दण्डका विधान ही युक्ति-युक्त है न कि पुनः पाप करनेका। दुनियामें हम देखते हैं कि चोरी, व्यभिचारादि करनेवाले अपराधियोंको जेल आदिकी सजा होती है, न कि फिर वैसे ही पाप करनेके लिये उन्हें उत्साह दिलाया जाता है। जब जगत्के न्यायमें भी ऐसा नहीं होता तब परम दयालु, परम न्यायकारी ईश्वर पाप-कर्मोंका फल चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि कैसे रच सकते हैं ?

५-प्रारब्ध उसी कर्मका नाम है जो पूर्वकृत कर्मोंका फल भुगतानेवाला हो। नवीन क्रियमाण कर्मकी उत्पत्तिका नाम प्रारब्ध नहीं है। नवीन क्रियमाण कर्म तो प्रारब्धसे सर्वथा भिन्न है। जहाँ कर्मोंकी तीन संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं वहाँ पुण्य-पापादि नवीन कर्मोंको क्रियमाण, सुख-दुःखादि भोगोंको प्रारब्ध और पूर्वकृत अभुक्त कर्मोंको सञ्चित कहा है। जिन लोगोंको उपर्युक्त तीनों कर्मोंके तत्त्वका ज्ञान होगा, वे पाप-पुण्यादि क्रियमाण कर्मोंको प्रारब्ध कैसे बतला सकते हैं ? अतएव यह सिद्ध हो गया कि राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अज्ञानसे उत्पन्न विकार ज्ञान न होनेतक जीवके अन्तःकरणमें न्यूनाधिक रूपमें रहते हैं और ज्ञान होते ही इनका समूल नाश हो जाता है।

(६) संसारमें हमारा क्या कर्तव्य है ?

चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्य ही कर्म-योनि है। अर्थात् इस मनुष्य-शरीरमें किये हुए कर्मोंका फल ही जीवको अन्यान्य सारी योनियोंमें भोगना पड़ता है। मनुष्य, पितृ और देव—ये तीन उत्तम योनियाँ मानी गयी हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी पाप-योनियाँ हैं। इन तीनोंमें भी मुक्तिके सम्बन्धमें तो मनुष्यकी ही प्रधानता है। यद्यपि मनुष्यकी अपेक्षा देव और पितृ अधिक पुण्य-योनि हैं और उनमें बुद्धि तथा सामर्थ्यकी भी विशेषता है, परन्तु भोगोंकी बहुलताके कारण देव और पितृयोनिके जीव मुक्तिके मार्गपर आरूढ़ होनेमें प्रायः असमर्थ ही रहते हैं। जब इस लोकमें भी विशेष समृद्धिशाली मनुष्य भोग-विलासमें फँसे रहनेके कारण मुक्तिके

मार्गपर नहीं आते, तब स्वर्गादि लोकोंमें अनेक सिद्धियोंको प्राप्त और भोग-सामग्रीमें अनुरक्त लोग मुक्ति-मार्गमें कैसे लग सकते हैं? अतएव बड़े ही सुकृतोंके संग्रह होनेपर भगवत्कृपासे यह परम दुर्लभ और मुक्तिका साधनरूप मनुष्यशरीर मिलता है। भगवान् दया करके जीवको मुक्त होनेका यह एक सुअवसर देते हैं—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ऐसे अमूल्य शरीरको पाकर हमलोगोंको उस परम दयालु परमात्माको तत्त्वसे जाननेके लिये परमात्माके भजनके निमित्त प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्ने श्रीगीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९।३३)

'इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर तू निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

क्योंकि यह शरीर परम दुर्लभ और पुण्यसे मिलनेवाला होनेपर भी विनाशी और क्षण-क्षणमें क्षय होनेवाला है। यदि इस अवसरको हम हाथसे खो देंगे तो फिर हमारे पछतानेकी सीमा न रहेगी। यह शरीर न तो भोगोंके लिये है और न स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही। जो इस मनुष्य-शरीरको पाकर इसे केवल विषय-भोगोंमें लगा देते हैं उनकी महात्माओंने बड़ी निन्दा की है। गोस्वामीजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(११। २०। १७)

'अति दुर्लभ मनुष्य-देह भगवत्-कृपासे सुलभतासे प्राप्त है, यह संसार-समुद्रसे पार जानेके लिये सुन्दर दृढ़ नौका है, गुरुरूपी इसमें कर्णधार है, भगवान् इसके अनुकूल वायु हैं, इस प्रकार होनेपर भी जो भव-समुद्रसे नहीं तरता वह आत्महत्यारा है।'

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

यह शरीर तो आत्माके कल्याणके लिये है। शास्त्रोंमें आत्मकल्याणके अनेक उपाय और युक्तियाँ बतलायी गयी हैं। गीताके चौथे अध्यायमें विविध यज्ञोंके नामसे, पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्त-निरोधके नामसे, उपनिषदादिमें ज्ञानके नामसे और शाण्डिल्य, नारद तथा व्यास आदिने भक्तिके नामसे परमात्माका तत्त्व जाननेके लिये अनेक उपाय बतलाये हैं। परन्तु इन सबमें सर्वोत्तम उपाय परमात्माकी अनन्य भक्ति या अनन्य शरणको ही समझना चाहिये।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योग० १। २३)

'ईश्वर-शरणागतिसे चित्त ईश्वरमें निरुद्ध हो सकता है।'

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

(शाण्डिल्यसूत्र २)

'ईश्वरमें परम अनुरक्ति ही भक्ति है।'

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(नारद० १९)

****

'समस्त आचार भगवान्‌के अर्पण करके भगवान्‌को ही स्मरण करते रहना और विस्मरण होते ही परम व्याकुल हो जाना।'

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२०—२२)

'हे उद्धव! मेरी प्राप्ति करानेमें मेरी दृढ़ भक्तिके समान योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप अथवा दान—कोई भी समर्थ नहीं है। साधुजनोंका प्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभ हूँ; मेरी भक्ति चाण्डालादिको भी उनके जातीय दोषसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है। मेरी भक्तिसे हीन पुरुषोंको सत्य और दयासे युक्त धर्म अथवा तपसहित विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(११।५३)

'हे अर्जुन! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूँ कि जैसे मुझको तुमने देखा है।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६५-६६)

(इसलिये) 'तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा, भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शंख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है। इससे सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

अतएव मनुष्य-शरीर पाकर ऋषियोंके और साक्षात् भगवान्के वचनोंमें विश्वासकर हमें भगवान्के भजन, ध्यानमें तत्पर होकर लग जाना चाहिये।

(७) परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति और संसारका विषय

परमात्मा, जीवात्मा तथा संसारसहित प्रकृति और इनका परस्पर सम्बन्ध अर्थात् जीव और परमात्माका सम्बन्ध, जीव और प्रकृतिका सम्बन्ध तथा प्रकृति और परमात्माका सम्बन्ध, परस्परका भेद और कर्म—ये छः अनादि हैं। इनमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा और उसका अंश जीव—दोनों अनादि और अनन्त हैं। शेष सभी अनादि और सान्त हैं। जीव और परमात्माका अंशांशी-सम्बन्ध है। यह अंशांशी-सम्बन्ध अनेक भावोंसे माना जाता है। जैसे दास्यभाव, सख्यभाव और माधुर्यभाव आदि। इस सम्बन्धकी

अवधि जीवकी इच्छापर अवलम्बित है। जीव और प्रकृतिमें भोक्ता और भोग्य सम्बन्ध है। जीव चेतन होनेके कारण भोक्ता है और प्रकृति जड होनेसे भोग्य।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

(गीता १३।२०)

'जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु कहा जाता है।' परन्तु कोई-कोई अन्तःकरणको भोक्ता मानते हैं। पर उनका मानना युक्तियुक्त नहीं। कारण अन्तःकरण जड होनेसे उसमें भोक्तृत्व सम्भव नहीं। शुद्ध आत्मा भी भोक्ता नहीं है। जो केवल शुद्ध आत्माको भोक्ता मानता है उसे भगवान्‌ने मूढ़ कहा है। अतएव 'प्रकृतिस्थ पुरुष' ही भोक्ता है।

प्रकृति और परमात्माका सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान्‌के सदृश है। सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति महासर्गके आदिमें प्रकृति और परमेश्वरके सम्बन्धसे ही होती है। शास्त्रमें जहाँ-जहाँ प्रकृतिसे संसारकी उत्पत्ति बतलायी है, वहाँ-वहाँ भगवान्‌की अध्यक्षतामें ही बतलायी है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

(गीता ९।१०)

'मेरी अध्यक्षतामें ही प्रकृति (माया) चराचरसहित समस्त जगत्‌को रचती है।'

जहाँ परमेश्वरके द्वारा संसारकी उत्पत्ति बतलायी है, वहाँ कहीं प्रकृतिको द्वार कहा है और कहीं योनि।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

(गीता १४।३)

'मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) सब भूतोंकी योनि है और मैं उसमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ।'

योनि कारणका नाम है। वहाँ वह शरीरोंके जडसमुदायका कारण है। चेतन-जीवात्मा तो स्वयं परमात्माका ही अंश है।

(८) बन्धन और मुक्ति

प्रकृति या वैष्णवी मायाका विकार जो अज्ञान है, उस अज्ञानसहित प्रकृतिके साथ जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध है। इसीका नाम बन्धन है और इसी कारणसे ईश्वरका चेतनांश जीवात्मा अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोधादि प्रकृतिके विकारोंसे बँधा हुआ प्रतीत होता है। ज्ञानके द्वारा प्रकृतिका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही मुक्ति है और अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक तथा काम-क्रोधादि विकारोंका अन्तःकरणसे सर्वथा नाश हो जाना ही अज्ञानके नाशका लक्षण है; क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषोंमें उपनिषद्, गीता प्रभृति आर्ष शास्त्रोंद्वारा इन विकारोंका सर्वथा अभाव ही प्रतिपादित है। अतएव अविद्याके अत्यन्त अभावका नाम ही मुक्ति है। अविद्याका अभाव होनेपर उसके कार्य इन विकारोंका नाश स्वाभाविक ही हो जाता है; क्योंकि कारणके अभावके साथ ही कार्यका अभाव सर्वथा सिद्ध है।

★

आत्माके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोत्तर

आत्माके सम्बन्धमें कई सज्जनोंके कुछ प्रश्न मेरे पास आये हैं। उन सबके प्रश्नोंको एकत्र कर सबके उत्तर एक ही साथ अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार नीचे दिये जाते हैं। प्रश्नोंकी भाषा आवश्यकतानुसार कुछ बदल दी गयी है। प्रश्न संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

(१) 'जीव', 'आत्मा' और 'परमात्मा' के अलग-अलग लक्षण बतलाते हुए आपने लिखा है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। इसको 'कूटस्थ' भी कहते हैं। इसपर यह शङ्का होती है कि एक, दो या तीन शरीरोंके आवरणसहित चेतनको व्यष्टि-चेतन कह सकते हैं; परन्तु इन शरीरोंके

आवरणके अतिरिक्त चेतनको और कौन-सा आवरण है, जिससे उसकी व्यष्टि-सत्ता बनी रह सकती है ? और आवरणरहितको व्यष्टि कैसे कह सकते हैं ? यदि आवरणके बिना भी चेतन व्यष्टिरूपमें रह सकता है तो फिर व्यष्टि और समष्टिमें अन्तर ही क्या रहा ? और आत्माके स्वरूपको समझनेके लिये आपने जो खाली घटमें रहनेवाले आकाशका दृष्टान्त दिया है, वह आपके ही कथनानुसार आत्मामें लागू नहीं होता; क्योंकि दृष्टान्तमें घटरूपी आवरण मौजूद है। आपके उत्तरसे जान पड़ रहा है कि आपने अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार उत्तर दिया है। किन्तु आपके कथनानुसार यदि शरीरोंके आवरण बिना आत्माकी व्यष्टि-सत्ता बनी रह सकती है तो अनेकात्मवाद मानना पड़ेगा। उस हालतमें अद्वैत-सिद्धान्त और द्वैत-सिद्धान्तमें भेद ही क्या रह जायगा ?

(२) स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीरकी परिभाषा क्या है ? तथा महाप्रलयके समय जीवका केवल कारणशरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, यह कहनेका क्या अभिप्राय है ? और मन-बुद्धिका कारणशरीरमें लय हो जाना किसे कहते हैं ?

(३) जाग्रत्-अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति-अवस्था और तुरीयावस्थाका क्या स्वरूप है ?

(४) डाक्टरलोग जो क्लोरोफार्म आदिका प्रयोग करके कृत्रिम मूर्च्छा ले आते हैं, उसमें कष्टका अनुभव क्यों नहीं होता ? तथा उस कृत्रिम मूर्च्छाके लानेका क्या मतलब है ?

(५) स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरके साथ जीवका प्रस्थान कब होता है—हृदयकी गति बन्द होनेपर या पहले ही ?

(६) जीवके एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेमें कुछ समय लगता है या तुरन्त उसे दूसरी योनि मिल जाती है ? यदि समय लगता है तो कितना समय लगता है तथा उतने समयतक जीव कहाँ रहता है ?

सूक्ष्मशरीरसे जीव किसी दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश कर सकता है या नहीं ?

(७) एक जन्ममें जो पुरुष है, वह क्या दूसरे जन्मोंमें भी पुरुष ही रहेगा और इस जन्ममें जो स्त्री है, क्या उसे प्रत्येक जन्ममें स्त्रीका शरीर ही मिलेगा ? अथवा इसमें परिवर्तन भी हो सकता है ?

(८) एक बार मनुष्य-जन्म मिलनेपर क्या दुबारा मनुष्य-जन्म ही मिलेगा या दूसरी योनि भी मिल सकती है ? यदि किसी मनुष्यको मरनेपर दूसरी योनि प्राप्त हुई तो वह अन्य योनियोंमें कबतक रहेगा और उसे पुनः मनुष्ययोनि कब मिलेगी ?

ऊपर लिखे हुए प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः नीचे दिया जाता है—

(१) आपकी शङ्का बिलकुल युक्तियुक्त है। आपका यह कहना ठीक ही है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध छूट जानेपर अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार जीवका व्यष्टिभाव नहीं रह जाता, वह समष्टिके साथ मिल जाता है। इसीका नाम कैवल्य-मुक्ति या निर्वाण है। 'जीव' और 'आत्मा' का भेद समझानेके लिये तथा इन दोनों संज्ञाओंकी पृथक्-पृथक् उपपत्ति बतलानेके लिये ही यह बात लिखी गयी थी कि उपर्युक्त शरीरोंमेंसे एक, दो या तीनोंसे सम्बन्धित चेतनका नाम 'जीव' है और इन तीनोंके सम्बन्धसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। वास्तवमें तीनों आवरणोंसे रहित आत्माकी कोई व्यष्टि-सत्ता रहती हो सो बात नहीं है। अवश्य ही, जैसा कि आपने लिखा है, अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार 'आत्मा' और 'परमात्मा' में कोई वास्तविक भेद नहीं है; केवल नामका ही भेद है। किन्तु एक या एकसे अधिक शरीरोंका आवरण रहनेपर भी चेतन तो उनके साथ रहता ही है, त्रिविध शरीरोंसे पृथक् केवल उस चेतनको द्योतित करनेके लिये ही 'आत्मा' का ऐसा लक्षण किया गया था। दृष्टान्तमें भी ऐसी ही बात समझनी चाहिये। यद्यपि घटरूप आवरणसे पृथक् घटावच्छिन्न आकाशकी कल्पना नहीं की जा सकती, किन्तु घटसे भिन्न उसके स्वरूपको समझानेके

लिये ही उसकी पृथक् संज्ञा की जाती है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो आपका कहना ठीक ही है। उसके सम्बन्धमें हमको कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

(२) स्थूल पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से बने हुए देव, तिर्यक्, मनुष्य, सरीसृप, कीट-पतङ्गादि भेदसे अनेकों भेदवाले व्यक्त शरीरका नाम 'स्थूलशरीर' है। इस शरीरके साथ संयोग और वियोग होनेका नाम ही जन्म और मृत्यु है। इस शरीरको लेकर ही प्राणियोंके अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं।

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण तथा मन, बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे बने हुए अव्यक्त शरीरका नाम सूक्ष्मशरीर है। मृत्युके समय एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें गमनागमन इसीका होता है। इसीके गमनागमनका आत्मापर आरोप होनेसे आत्माका गमनागमन कहा जाता है, वास्तवमें आत्मा सर्वव्यापी होनेके कारण अचल है। यह हमलोगोंकी इन्द्रियोंका विषय न होनेके कारण 'सूक्ष्म' कहलाता है। सूक्ष्मशरीर प्राणमय होनेके कारण वायुप्रधान होता है। इसे 'लिङ्गशरीर' भी कहते हैं। स्वप्नावस्थामें जीव प्रधानरूपसे इसीके साथ सम्बद्ध रहता है।

कारणशरीर केवल प्रकृतिका बना हुआ होता है। इसको स्वभाव भी कहते हैं। सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेपर भी कारणशरीरकी अपेक्षा स्थूल है। गाढ़ निद्रा तथा मूर्च्छाकी अवस्थामें जीवका केवल इसी शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता। महाप्रलयके समय जब महत्तत्त्वपर्यन्त सारी प्राकृतिक सृष्टि महाकारण अर्थात् मूल प्रकृति (अव्याकृत माया) में लीन हो जाती है, उस समय जीव इसी कारण-शरीरसे संश्लिष्ट होकर प्रकृतिरूपी कारणाब्धिमें लीन रहते हैं और महासर्गके आदिमें—जब प्रकृतिमें क्षोभ होता है—पुनः पूर्वकर्मोंके अनुसार सूक्ष्मशरीरको प्राप्त हो जाते हैं और फिर क्रमशः स्थूलशरीरको ग्रहण करते हैं।

सुषुप्ति एवं मूर्च्छाकी अवस्थामें तथा महाप्रलयके समय इन्द्रिय तथा मन-बुद्धिकी प्रकृतिसे अलग सत्ता नहीं रहती। वे इन्द्रिय, मन और बुद्धि अपने कारण—प्रकृति—में लीन हो जाते हैं। इसलिये उस समय जीवको सुख-दुःखका बोध नहीं होता; उनके कारणशरीरमें लीन हो जानेका यही भाव है।

(३) जाग्रत्-अवस्थाका अर्थ है जागनेकी अवस्था। जिस समय हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीर संयुक्त होकर कार्य करते हैं, इन्द्रिय एवं मनके साथ-साथ शरीर भी सचेष्ट रहता है, कर्मेन्द्रियाँ सजग रहती हैं, शरीरमें चेतना रहती है, उस अवस्थाको जाग्रत्-अवस्था कहते हैं।

जिस समय हमारा स्थूलशरीर निश्चेष्ट रहता है; केवल सूक्ष्मशरीर जाग्रत् रहता है—एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धिकी चेष्टा भीतर-ही-भीतर चालू रहती है, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंके द्वारा हम अनेक प्रकारके दृश्योंकी कल्पना करके सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, स्थूलशरीरके एक ही स्थानपर सोये रहनेपर भी सूक्ष्मशरीरके द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानोंकी सैर करते हैं और भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंसे मिलते हैं, जिस समय हमारी इन्द्रियाँ स्थूलशरीरसे वियुक्त होकर कार्य करती हैं, स्थूल विषयोंके साथ संयोग न होनेपर भी सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करती हैं—उस अवस्थाका नाम स्वप्नावस्था है।

गाढ़ निद्राकी स्थितिको सुषुप्ति-अवस्था कहते हैं। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर निश्चेष्ट हो जाते हैं, दोनोंका कार्य बंद हो जाता है। केवल प्राणोंका व्यापार बंद नहीं होता, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया चलती रहती है। इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि इस अवस्थामें अपने कारण—प्रकृति अर्थात् अज्ञानमें लीन हो जाते हैं। इसलिये जीवको उस समय किसी पदार्थका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। गाढ़ निद्राके बाद जब हम जागते हैं तब कहते हैं कि ऐसी नींद आयी कि हमें कुछ चेत ही न रहा। सुषुप्तिकी अवस्था

****

मूर्च्छाकी-सी अवस्था होती है। इसमें चिन्ता, शोक, पीड़ा आदिका भी उतने समयके लिये तो नाश ही हो जाता है। इसीलिये हमलोग जब बहुत थक जाते हैं अथवा मानसिक चिन्ता तथा शारीरिक पीड़ा आदिसे व्यथित होते हैं तब निद्राका आवाहन करते हैं।

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि जाग्रत्-अवस्थामें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे आत्माका सम्बन्ध रहता है; स्वप्नावस्थामें उसका सूक्ष्म और कारण दो ही शरीरोंसे सम्बन्ध रहता है, स्थूलशरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है। स्थूलशरीर चाहे कंकड़ोंपर पड़ा रहे अथवा उसमें घोर पीड़ा हो रही हो, स्वप्नकी अवस्थामें यदि हम इन्द्रलोककी सैर कर रहे होते हैं तो उतने समयके लिये हम अपने स्थूलशरीरमें चुभनेवाले कंकड़ोंको तथा उनसे होनेवाली पीड़ाको बिलकुल भूले रहते हैं। इसी प्रकार हम मखमलके गद्देपर लेटे हुए हों, पंखा चल रहा हो और दासियाँ हमारे पैर पलोट रही हों तथा चारों ओरसे हम सुरक्षित हों, किन्तु यदि उस समय स्वप्नमें हम किसी घोर जङ्गलमें पहुँच गये और वहाँ बाघ आकर हमको खाने लगा अथवा हम किसी नदीमें डूबने लगे अथवा चोर-डाकुओंद्वारा पीटे जाने लगे तो उस समय वह मखमलका गद्दा, जिसपर हम स्थूलशरीरसे लेटे हुए हैं, हमें आराम नहीं पहुँचायेगा और हमारे दास-दासी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होनेपर भी हमारी उस बाघसे अथवा चोर-डाकुओंसे रक्षा नहीं कर सकेंगे और न हमें नदीमें डूबनेसे बचा सकेंगे। सुषुप्ति-अवस्थामें हमारा केवल कारणशरीरसे सम्बन्ध रहता है, स्थूल और सूक्ष्म दोनोंसे नहीं रहता। स्थूलशरीर उस समय बिलकुल निश्चेष्ट पड़ा रहता है और सूक्ष्मशरीर अपने कारणमें लीन हो जाता है; केवल प्राणोंकी क्रिया चालू रहती है। इन तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण चौथी अवस्था तुरीयावस्था वह है, जिसमें आत्माका उक्त तीनों शरीरोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह जीवन्मुक्त महात्माओंकी अवस्था है। इस चौथी अवस्थाको प्राप्त होनेपर जीवका व्यष्टिभाव नष्ट होकर

****

वह समष्टिमें मिल जाता है, इसीको आत्माकी स्वरूपावस्था कहते हैं। यह वास्तवमें कोई अवस्था नहीं है, आत्माका स्वरूप ही है। जिज्ञासुओंको पहली तीन अवस्थाओंसे इसकी विलक्षणता बतलानेके लिये ही इसको 'अवस्था' संज्ञा दी गयी है। इस अवस्थाको प्राप्त हुए महापुरुषोंका केवल दूसरोंके देखनेमें ही शरीरादिसे सम्बन्ध रहता है, वास्तवमें उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उनके कहलानेवाले शरीरादिका सञ्चालन फिर प्रारब्धानुसार समष्टि-चेतनके सकाशसे होता रहता है।

(४) क्लोरोफार्म आदिके प्रयोगसे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी प्रायः वही अवस्था हो जाती है जो सुषुप्ति-अवस्थामें अथवा स्वाभाविक मूर्च्छाकी दशामें होती है। अर्थात् उस समय स्थूलशरीर बिलकुल निश्चेष्ट हो जाता है और सूक्ष्मशरीरकी क्रिया भी बंद हो जाती है। केवल प्राणोंकी गति बंद नहीं होती, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया चालू रहती है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि ही सुख-दुःखके अनुभवके द्वार हैं और ये सब उस समय अपने कारण— प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं; अतएव उस अवस्थामें अङ्गोंके काटे जानेपर भी पीड़ा नहीं होती और न उनके काटे जानेका ज्ञान ही रहता है। इसीलिये डाक्टर लोग चीरफाड़ करते समय इन द्रव्योंका उपयोग करते हैं, जिससे वह कार्य आसानीसे हो सके और रोगीको कष्ट भी न हो।

(५) स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरके साथ जीवका प्रस्थान हृदयकी गति बंद होनेके बाद ही होता है। जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक जीवका प्रस्थान नहीं माना जा सकता। हृदयकी धड़कन बंद हो जानेके बाद भी कुछ समयतक जीव रह सकता है और यह भी सम्भव है कि हृदयकी धड़कन इतनी सूक्ष्म हो कि दूसरोंको उसका पता न लगे। अतः हृदयकी धड़कन बंद हो जानेपर भी जीवकी स्थिति शरीरमें रह सकती है; परन्तु इसके विपरीत जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक तो जीवका रहना निश्चित ही है।

(६) प्राणोंका जिस क्षणमें शरीरसे वियोग होता है, जीवका सूक्ष्मशरीर

****

तो उसी क्षण बदल जाता है। जीवको अन्तिम क्षणमें जिस भावकी स्मृति होती है, उसीके आकारका उसका सूक्ष्मशरीर तुरंत बन जाता है, जिस प्रकार कैमरेपर जिस वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसके लेंस (शीशे) पर वैसा ही चित्र अङ्कित हो जाता है, उसी प्रकार प्रयाणकालमें अन्तःकरणपर जिस शरीरका चिन्तन होता है, उसका सूक्ष्मशरीर उसी आकारका बन जाता है। रह गयी स्थूलशरीरकी बात, सो जिस प्रकार कैमरेपर पड़े हुए प्रतिबिम्बके अनुसार फोटो तैयार करनेमें समयकी अपेक्षा होती है, उसी प्रकार बदले हुए सूक्ष्मशरीरके अनुरूप स्थूलशरीरके तैयार होनेमें भी समय लगता है और यह समय प्राप्त होनेवाली योनिके भेदसे न्यूनाधिक होता है। जीवकी त्रिविध गति गीता (१४।१८) में बतलायी गयी है—'ऊर्ध्व, मध्यम और अधम।' ऊर्ध्व गतिको जानेवाले जीव धूममार्ग अथवा अर्चिमार्गसे ऊपरके लोकोंको जाते हैं, मध्यम गतिको प्राप्त होनेवाले जीव मनुष्ययोनिमें जन्म ग्रहण करते हैं और अधम गतिको प्राप्त होनेवाले जीव पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि तिर्यक् योनियों अथवा वृक्षादि स्थावर योनियोंमें जन्म लेते हैं या नरकको प्राप्त होते हैं।

सकामभावसे शुभकर्म अथवा उपासना करनेवाले जीव धूम-मार्गसे चन्द्रलोकादि दिव्य लोकोंमें जाकर देवशरीरको प्राप्त करते हैं। उन्हें उन दिव्य लोकोंमें पहुँचनेके लिये गीतादि शास्त्रोंके अनुसार क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन आदिके अभिमानी देवताओंके स्वरूपको प्राप्त होकर जाना होता है और वहाँ वे अपने पुण्योंके अनुसार एक निश्चित अवधितक दिव्य सुख भोगकर पुनः मर्त्यलोकमें जन्म लेते हैं।

निष्काम कर्म अथवा निष्काम उपासना करनेवाले जीवोंमेंसे जिनको आत्मज्ञान होकर यहाँ मुक्ति हो जाती है, उनका तो कहीं गमनागमन होता नहीं। उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता—'**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।**' (बृ० उ० ४।४।६) इनसे भिन्न जो कैवल्यमुक्ति नहीं चाहते, वे क्रमशः

****

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण आदिके अभिमानी देवताओंके स्वरूपको प्राप्त होते हुए अमानव पुरुषके द्वारा दिव्य अप्राकृत शरीरसे भगवान्‌के परमधामको ले जाये जाते हैं और अधिकारानुसार वहाँ भगवान्‌के सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य अथवा सायुज्यको प्राप्तकर अलौकिक सुखका अनुभव करते हैं और फिर लौटकर मर्त्यलोकमें नहीं आते।

जो जीव कर्मानुसार मरनेके बाद मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं अथवा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि मूढ़ योनियोंको प्राप्त होते हैं, उनका वायुरूपसे उन-उन योनियोंके खाद्य पदार्थमें प्रवेश हो जाता है। जिस पिताके वीर्यसे उनका जन्म होनेको होता है, वह उसे खाता है और उसका परिपाक होकर जब वीर्य बनता है तब उस वीर्यके साथ वे माताकी योनिमें प्रवेश करते हैं और वहाँ-वहाँ उस-उस योनिके शरीरको धारण करते हैं। इनके अतिरिक्त जो मनुष्य घोर पाप करते हैं वे यातनाशरीर प्राप्तकर विविध नरकोंकी यातना भोगते हैं और भोग समाप्त होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें आकर स्थूलशरीर धारण करते हैं।

सूक्ष्मशरीरसे जीव दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश कर सकता है। जिन योगियोंको परकाय-प्रवेशकी सिद्धि प्राप्त होती है, वे अपने स्थूलशरीरमेंसे इच्छानुसार निकलकर दूसरे किसी मृतशरीरमें प्रवेश कर सकते हैं। इस प्रकारके उदाहरण इतिहासमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त योगबलसे एक शरीर छोड़कर दूसरे जीवित शरीरमें भी सूक्ष्मशरीरद्वारा प्रवेश करनेकी शक्ति प्राप्त की जा सकती है। महाभारत, शान्तिपर्वके ३२०वें अध्यायमें सुलभा नामकी एक संन्यासिनीका उल्लेख आता है, जिसने अपने योगबलसे राजा जनकके शरीरमें प्रवेश किया था।

(७) जो लोग एक जन्ममें पुरुष होते हैं, वे प्रायः आगेके जन्मोंमें भी पुरुष ही होते हैं और जिन्हें एक जन्ममें स्त्रीका शरीर मिला है, उन्हें प्रायः आगे भी स्त्रीका शरीर ही मिलेगा, चाहे वे किसी भी योनिमें जायँ। परन्तु यह

****

कोई अटल नियम नहीं है। इसमें परिवर्तन भी हो सकता है। गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार ही मनुष्यको दूसरी देह प्राप्त होती है। यदि किसी पुरुषका इस जन्ममें स्त्रियोंका-सा स्वभाव बन गया हो, उसमें स्त्रियोंके-से गुण आ गये हों अथवा उसने जीवनभर स्त्रियोंके-से कर्म किये हों तो उसे अगले जन्ममें स्त्रीका ही शरीर मिले, यह बहुत सम्भव हो जाता है। इसी प्रकार यदि किसी पुरुषका चित्त अन्त समयमें स्त्रीका चिन्तन करनेमें लगा हो, तब भी उसका अगले जन्ममें स्त्री होना सम्भव है। यही बात स्त्रियोंके लिये भी लागू होती है। दूसरे जन्मकी तो बात ही क्या है, इसी जन्ममें स्त्रीके पुरुषरूपमें और पुरुषके स्त्रीरूपमें परिवर्तन होनेकी बात इतिहासमें आती है। शिखण्डीके स्त्रीसे पुरुष हो जानेका वर्णन महाभारतमें मिलता है। अर्वाचीन कालमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीके वरदानसे एक कन्याके बालकके रूपमें परिवर्तित हो जानेकी बात उनकी जीवनीमें आयी है। वर्तमान कालमें भी इस प्रकारकी घटनाएँ यूरोप आदि देशोंमें हुई सुनी जाती है।

(८) एक बार किसी जीवको मनुष्ययोनि मिल जानेपर सदाके लिये उसे मनुष्ययोनिका पट्टा मिल जाता है, ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये। ऐसा माननेसे भगवान्‌में निर्दयता और वैषम्यका दोष घटता है और कर्मसिद्धान्तमें भी विरोध आता है। इसका अर्थ तो यह होगा कि एक बार जिसे मनुष्य-जन्म मिल गया, वह चाहे कितने ही पाप क्यों न करे, उसे मनुष्ययोनिसे नीचे नहीं ढकेला जायगा। परन्तु ऐसी बात है नहीं। जीवोंको गुण-कर्मके अनुसार ही अच्छी-बुरी योनियाँ प्राप्त होती हैं (गीता ४। १३; १३। २१)। अच्छे कर्म करनेपर हमें मनुष्य-योनि ही क्यों, देवयोनि भी मिल सकती है, भगवान्‌तककी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु मनुष्य यदि पापकर्म करता है तो उसे दुबारा मनुष्ययोनि मिलनेका कोई कारण नहीं रह जाता। पापी मनुष्यको भी पुनः मनुष्यशरीर देना उसके पापोंको प्रोत्साहन देना होगा। भगवान् ऐसा कभी नहीं कर सकते। पापी मनुष्योंके मनुष्ययोनिसे ढकेले जाने तथा

बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराये जानेकी बात तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे कही है (गीता १६। १९-२०)। इतिहासमें भी पापी मनुष्योंके नीचेकी योनियोंमें तथा नरकादिमें ढकेले जानेकी बात जगह-जगह आयी है। पापियोंकी तो बात ही क्या, राजर्षि भरत-जैसे धर्मात्मा तपस्वी एवं गृहत्यागी पुरुषके मरते समय एक मृगछौनेमें अन्तःकरणकी वृत्ति अटकी रह जानेके कारण मृगयोनिको प्राप्त होनेकी बात श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंमें आती है। इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यको मरनेके बाद मनुष्ययोनि ही मिले, यह निश्चित नहीं है। बल्कि वर्तमान युगके मनुष्योंके आचरण देखते हुए तो उन्हें फिरसे जल्दी ही मनुष्ययोनि मिलनेकी सम्भावना कम ही मालूम होती है। युक्तिसे तो यह बात मालूम होती है कि बारी-बारीसे सभी जीवोंको मनुष्य होनेका सौभाग्य मिलना चाहिये; क्योंकि मुक्तिका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है, इस न्यायसे भी जल्दी मनुष्ययोनि मिलनेकी सम्भावना नहीं है। शास्त्रोंमें भी मनुष्यशरीरको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है। मनुष्यजन्मका मौका तो भगवान् जीवको कभी-कभी ही देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

परन्तु इससे यह भी नहीं मानना चाहिये कि मनुष्ययोनिके बाद फिर मनुष्ययोनि मिल ही नहीं सकती। मनुष्योचित कर्म करनेवालोंको पुनः मनुष्ययोनि भी मिल सकती है।

═★═

निराकार-साकार-तत्त्व

एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और जो कुछ भी भासता है सो वास्तवमें नहीं है, केवल स्वप्नवत् प्रतीति होती है। वेद, वेदान्त और उपनिषद्का यही सर्वोच्च सिद्धान्त है, यही स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीका मत है और यही वास्तवमें न्यायसिद्ध सिद्धान्त है परंतु यह बात इतनी ऊँची और गोपनीय है कि सहजहीमें सहसा इसका प्रकाश करना अनुचित है। इस सिद्धान्तको कहने और सुननेवाले बहुत ही थोड़े हुआ करते हैं, इसको कहनेका वही अधिकारी है जो स्वयं इस स्थितिमें हो और सुननेका भी वही अधिकारी है जो सुननेके साथ ही इस स्थितिमें स्थित हो जाय। जो इस प्रकारके नहीं हैं उनको न कहनेका अधिकार है और न सुननेका। जिनको राग-द्वेष होता है, जो सांसारिक हानि-लाभमें दुःखित और हर्षित होते हैं, जो दुःख और सुखका भिन्न-भिन्न रूपसे अनुभव करते हैं तथा जो विषयलोलुप और इन्द्रियाराम हैं उनको तो इस सिद्धान्तके उपदेशसे उलटी हानि भी हो सकती है। वे लोग मान बैठते हैं कि जब संसार स्वप्नवत् है तब असत्य, व्यभिचार, हिंसा और छल-कपट आदि पाप भी स्वप्नवत् ही हैं। चाहे सो करो, कोई हानि तो होगी नहीं। यों मानकर वे लोग परिश्रमसाध्य सत्कर्मोंको त्यागकर भिन्न-भिन्न रूपसे पापाचरण करने लग जाते हैं; क्योंकि सत्कर्मोंके करनेकी अपेक्षा उन्हें छोड़ देना और पाप-कर्मोंमें लग जाना सहज है। इसीलिये अनधिकारियोंको इस सिद्धान्तका उपदेश न करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है; क्योंकि अनधिकारी लोग इस सिद्धान्तको यथार्थरूपसे न समझकर सत्कर्मोंको त्याग देते हैं, ज्ञानकी प्राप्ति उन्हें होती नहीं; अतएव उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। यह दोहा प्रसिद्ध ही है—

ब्रह्मज्ञान उपज्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
'तुलसी' ऐसी आतमा, सहज नरकमें जाय॥

****

इसलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

(३।२६)

'ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ सब कर्मोंको अच्छी तरह करता हुआ उनसे भी वैसे ही कर्म करावे।'

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मोंमें यही अन्तर है कि ज्ञानीके कर्म अनासक्त भावसे स्वाभाविक होते हैं और अज्ञानीके कर्म आसक्तिसहित होते हैं। श्रीगीतामें कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(३।२५)

'हे अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ ज्ञानी भी लोकशिक्षाको चाहता हुआ कर्म करे।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ब्रह्मकी चर्चा केवल अधिकारियोंमें ही होनी चाहिये।

लोग कह सकते हैं कि जब एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो इससे सृष्टि और सृष्टिकर्ता ईश्वरका भी न होना ही सिद्ध होता है और यदि यही बात है तो फिर इनके प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणभूत शास्त्र और प्रत्यक्ष दीखनेवाली सृष्टिकी क्या दशा होगी? इसका उत्तर यही है कि जैसे आकाश निराकार है, आकाशमें कहीं कोई आकार नहीं, परन्तु कभी-कभी आकाशमें बादल दीख पड़ते हैं, वे बादल आकाशमें ही उत्पन्न होते हैं, उसीमें दीख पड़ते हैं और अन्तमें उसी आकाशमें शान्त हो जाते हैं। आकाशकी वास्तविक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता; परन्तु आकाशका

****

जितना स्थान बादलोंसे आवृत होता है उतने अंशमें उसका एक विशेष रूप दीखता है और उसमें वृद्धि आदिकी क्रिया भी होती है।

इसी प्रकार एक ही अनन्त शुद्ध ब्रह्ममें जितना अंश मायासे आच्छादित दीखता है उतने अंशका नाम सगुण ईश्वर है, वास्तवमें यह सगुण ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे कभी कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु मायाके कारण भिन्न दीखनेसे सगुण ईश्वरको लोग भिन्न मानते हैं। यही भिन्नरूपसे दीख पड़नेवाला सगुण चैतन्य, सृष्टिकर्ता ईश्वर है; इसीको आदिपुरुष, पुरुषोत्तम और मायाविशिष्ट ईश्वर कहते हैं। आकाशके अंशमें मेघोंकी भाँति इस सगुण चैतन्यमें जो यह सृष्टि दीखती है वह मायाका कार्य है। माया सृष्टिकर्ता ईश्वरकी शक्तिका नाम है। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति होती है उसी प्रकार सृष्टिकर्ता ईश्वर और उसकी शक्ति माया है। इसे ही प्रकृति कहते हैं।

यह माया क्या है और कैसे उत्पन्न होती है ? यह एक भिन्न विषय है अतएव इस विषयपर यहाँ कुछ न लिखकर मूल-विषयपर ही लिखा जाता है। इस वर्णनसे यह समझना चाहिये कि निराकार आकाशकी भाँति उस सर्वव्यापी अनन्त चेतनका नाम तो शुद्ध ब्रह्म है, वास्तवमें आकाशका दृष्टान्त भी एकदेशीय ही है; क्योंकि आकाशकी तो सीमा भी है और उसका कोई आकार न होनेपर भी उसमें शब्दरूपी एक गुण भी है; परन्तु शुद्ध ब्रह्म तो असीम, अनन्त, निर्गुण, केवल और एक ही है, इसीलिये वह अनिर्वचनीय है और इसीलिये उसका उपदेश केवल उसी अधिकारीके प्रति किया जा सकता है, जो उसे धारण करनेमें समर्थ है। यह तो शुद्ध ब्रह्मकी बात हुई।

इसी शुद्ध ब्रह्मका जितना अंश (आकाशके मेघोंसे आवृत अंशकी भाँति) अलग दीखता है, वही मायाविशिष्ट सृष्टिकर्ता सगुण ईश्वर है और उसी परमात्माके एक अंशमें सारे ब्रह्माण्डकी स्थिति है। अस्तु!

अब इसके बाद साकार ईश्वर यानी अवतारका विषय आता है, जब वह सगुण ईश्वर आवश्यकता समझते हैं तभी वह अपनी मायाको अधीन करके जिस रूपमें कार्य करना होता है उसी रूपमें प्रकट हो जाते हैं। कभी मनुष्यरूपमें, कभी वाराह और नृसिंहरूपमें, कभी मत्स्य और कच्छपरूपमें, कभी हंस और अश्वरूपमें। इसी प्रकार आवश्यकतानुसार अनेक रूपोंमें ईश्वर साक्षात् अवतीर्ण हो लोगोंको दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं; परन्तु उनका यों संसारमें प्रकट होना प्राकृत जीवोंके सदृश नहीं होता, ईश्वरके अवतीर्ण होनेका समय और हेतु भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(४।७-८)

'हे अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। मैं साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये तथा धर्मकी स्थापना करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

इस समय पृथ्वीपर ऐसा कोई अवतार नहीं दीखता जो यों कह दे कि मैंने साधुओंका उद्धार करनेके लिये अवतार लिया है, संसारमें साधु अनेक मिल सकते हैं; किन्तु उन साधुओंके उद्धारके लिये अवतीर्ण होकर आनेवाला कोई नहीं दीखता। भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति यों कहनेवाला कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

'सब धर्मोंके आश्रयको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेवकी ही

अनन्य शरण हो जा, मैं तुझको सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

यों एकमात्र अपनी शरणसे ही पापोंसे मुक्त कर देनेका वचन देनेवाला इस समय संसारमें कोई अवतार नहीं।

कुछ दिनों पहले एक सज्जनने मुझसे पूछा था कि पृथ्वीपर पाप तो बहुत बढ़ गया है, क्या भगवान्‌के अवतार लेनेका समय अभी नहीं आया? यदि आया है तो भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते? मैंने उनसे कहा था कि मुझे मालूम नहीं। यह तो कोई बात ही नहीं कि मैं सभी बातोंका जानकार होऊँ, भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते, इस बातको भगवान् ही जानें। हाँ, यदि कोई मुझसे पूछे कि भगवान्‌के अवतार लेनेसे तुम प्रसन्न हो या नहीं, तो मैं यही कहूँगा कि मैं भगवान्‌के अवतार लेनेसे बहुत प्रसन्न हूँ; क्योंकि इस समय यदि भगवान्‌का अवतार हो जाय तो मुझे भी उनके दर्शन हो सकते हैं। यदि कोई सरलतासे यह पूछे कि तुम्हारे अनुमानसे भगवान्‌के अवतार लेनेका समय अभी आया है या नहीं? तो मैं अपने अनुमानसे यही कह सकता हूँ कि वह समय सम्भवतः अभी नहीं आया, यदि वह समय आया होता तो भगवान् अवतीर्ण हो जाते। कलियुगमें जैसा कुछ होना चाहिये अभीतक उससे कुछ अधिक नहीं हो रहा है। भगवान्‌के अन्य अवतारोंके समय जैसा अत्याचार बढ़ा था, धर्म और धर्मप्राण ऋषियोंकी जैसी दुर्दशा हुई थी वैसी अभी नहीं हुई है। भगवान् श्रीरामचन्द्रके समयमें तो राक्षसोंके द्वारा मारे हुए ऋषियोंकी हड्डियोंके ढेर लग गये थे।

प्रश्न—क्या ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य नहीं था और यदि था तो उन्होंने राक्षसोंका वध क्यों नहीं किया?

उत्तर—ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य था, परन्तु वे अपना तपोबल क्षीण करना नहीं चाहते थे। जिस समय श्रीविश्वामित्रजीने महाराज दशरथके पास आकर यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीराम-लक्ष्मणको माँगा, उस समय भी उन्होंने यही कहा था कि 'यद्यपि मैं राक्षसोंका वध स्वयं कर

****

सकता हूँ, परन्तु इससे मेरा तप क्षय होगा जिसको कि मैं करना नहीं चाहता। श्रीराम-लक्ष्मणके द्वारा राक्षसोंका वध होनेपर मेरे यज्ञकी रक्षा भी होगी तथा मेरा तपोबल भी सुरक्षित रह जायगा। श्रीराम-लक्ष्मण राक्षसोंको सहजहीमें मार सकते हैं, इस बातको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते।' महाराज दशरथने मोहसे श्रीराम-लक्ष्मणको साधारण बालक समझकर अपत्य-स्नेहके वशीभूत हो विश्वामित्रसे कहा कि 'नाथ! मैं स्वयं आपके साथ चलनेको तैयार हूँ, एक रावणको छोड़कर और सारे राक्षसोंको मार सकता हूँ। आप राम-लक्ष्मणको न लेकर मुझे ले चलिये।' इस प्रकार राजाको मोहमें पड़े हुए देखकर श्रीवसिष्ठजी महाराजने, जो भगवान् श्रीरामके प्रभावको तत्त्वसे जानते थे, दशरथजीको समझाकर कहा कि 'राजन्! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो, ये साधारण बालक नहीं हैं, इन्हें कोई भय नहीं है, तुम प्रसन्नताके साथ इन्हें विश्वामित्रजीके साथ भेज दो।' इस प्रसङ्गसे यह जाना जाता है कि ऋषिगण सामर्थ्यवान् तो थे, परन्तु अपने तपोबलसे काम लेना नहीं चाहते थे।

कलियुगमें अभीतक ऐसा समय उपस्थित हुआ नहीं जान पड़ता कि जिससे भगवान्को अवतार लेना पड़े और भगवान् यों सहसा अवतार लिया भी नहीं करते। पहले तो वे कारक (अधिकारी) पुरुषोंको अपना अधिकार सौंपकर भेजते हैं, जैसे मालिक अपनी दूकान सँभालनेके लिये विश्वासी मुनीमको भेजता है। पर जब वह देखता है कि मुनीमसे कार्य सिद्ध नहीं होगा, मेरे स्वयं गये बिना काम नहीं चलेगा, तब वह स्वयं जाता है; इसी प्रकार जब कारक पुरुषोंके भेज देनेपर भी भगवान्को अपने अवतार लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है तब वे स्वयं प्रकट होते हैं। कारक पुरुष उन्हें कहते हैं कि जो भगवत्कृपासे अपने पुरुषार्थद्वारा इस श्लोकके अनुसार—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

(गीता ८।२४)

****

—भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा क्रमसे अग्रसर होते हुए अन्तमें भगवान्के सत्यलोकको पहुँचते हैं। इस लोकमें जानेवाले महात्माओंका स्वागत करनेके लिये भगवान्के पार्षद (अमानव पुरुष) विमान लेकर सामने आते हैं और उन्हें बड़े आदर-सत्कारके साथ भगवान्के उस परमधाममें ले जाते हैं। वह धाम प्रलयकालमें नाश नहीं होता, वहाँ किसी प्रकारका दुःख और शोक नहीं है। एक बार जो उस धाममें पहुँच जाता है, उसका फिर कर्म-बन्धनयुक्त जन्म नहीं होता। इसी लोकको सम्भवतः श्रीविष्णुके उपासक वैकुण्ठ, श्रीकृष्णके उपासक गोलोक और श्रीरामके उपासक साकेतलोक कहते हैं। इस लोकमें पहुँचे हुए महात्मागण महाप्रलयपर्यन्त सुखपूर्वक वहाँ निवास कर अन्तमें शुद्धब्रह्ममें शान्त (विलीन) हो जाते हैं।

ऐसे लोगोंमेंसे यदि कोई महापुरुष सृष्टिकर्ता भगवान्की प्रेरणासे अथवा अपनी इच्छासे केवल जगत्का हित करनेके लिये संसारमें आते हैं तो वे कारक पुरुष कहलाते हैं। ऐसे लोगोंके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे भी श्रद्धालु पुरुषोंका उद्धार हो सकता है। श्रीवसिष्ठजी और वेदव्यासजी महाराज आदि ऐसे ही महापुरुषोंमेंसे थे। इन लोगोंका जगत्में प्रकट होना केवल जगत्के उद्धारके लिये ही होता है, जिस प्रकार किसी कारागारमें पड़े हुए कैदियोंको मुक्त करनेके लिये किसी विशेष अवसरपर राजाके प्रतिनिधि अधिकार लेकर कारागारमें जाते हैं और वहाँ जाकर बन्धनमें पड़े हुए कैदियोंको बन्धनसे मुक्त कर, स्वतन्त्रतासे वापस लौट आते हैं। जेलमें कैदी भी जाते हैं और राजाके प्रतिनिधि भी। भेद इतना ही है कि कैदी तो अपने किये दुष्कर्मोंका फल भोगनेके लिये परवश होकर जेलके बन्धनमें जाते हैं और राजाके प्रतिनिधि स्वतन्त्रतासे दयाके कारण बन्धनमें पड़े हुए कैदियोंको मुक्त करनेके लिये जेलमें जाते हैं। इसी प्रकार कारक पुरुष भी संसारमें केवल बन्धनमें पड़े हुए जीवोंको मुक्त करनेके लिये ही

प्रकट होते हैं। अवतारमें और कारक पुरुषमें यही अन्तर है कि अवतार तो कभी जीवभावको प्राप्त हुए ही नहीं और कारक पुरुष किसी कालमें जीव-भावको प्राप्त थे; परंतु भगवत्-कृपासे अपने पुरुषार्थद्वारा क्रममुक्तिसे वे अन्तमें इस स्थितिको प्राप्त हो गये। इस समय अवतार और कारक पुरुष तो जगत्में देखनेमें नहीं आते, जीवन्मुक्त महात्मा अलबत्ता मिल सकते हैं।

मुक्ति दो प्रकारकी होती है—सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। जो इसी देहमें अज्ञानसे सर्वथा छूटकर नित्य, सत्य, आनन्द-बोधस्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, जिनके सारे कर्म ज्ञानाग्निके द्वारा भस्म हो जाते हैं और जिनकी दृष्टिमें एक अनन्त और असीम परमात्मसत्ताके सिवा जगत्की भिन्न सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है ऐसे महापुरुष तो जीवन्मुक्त कहलाते हैं, इसीका नाम सद्योमुक्ति है। और जो उपर्युक्त क्रमसे लोकान्तरोंमें होते हुए परमधामतक पहुँचते हैं, वे क्रममुक्त कहलाते हैं। इस मुक्तिके चार भेद हैं, यथा—सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य और सायुज्य। भगवान्के समीप निवास करनेका नाम सामीप्य है, भगवान्के समान स्वरूप प्राप्त होनेका नाम सारूप्य है, भगवान्के समान लोकमें निवास करनेका नाम सालोक्य है और भगवान्में मिल जानेका नाम सायुज्य है। जो दास-दासी या माधुर्यभावसे भगवान्की भक्ति करते हैं उन्हें सामीप्य-मुक्ति, जो मित्रभावसे भजते हैं उन्हें सारूप्य-मुक्ति, जो वात्सल्यभावसे भजते हैं उन्हें सालोक्य-मुक्ति तथा जो वैरभावसे या ज्ञानमिश्रिता भक्तिसे भगवान्की उपासना करते हैं उन्हें सायुज्य-मुक्ति प्राप्त होती है।

ऐसे महापुरुष इस समय भी जगत्में हैं। जीवन्मुक्त वही होता है जो पहले जीवभावको प्राप्त था, पीछेसे पुरुषार्थके द्वारा मुक्त हो गया। जैसे श्रीशुकदेवजी और राजा जनकादि।

जीवोंमें पहली श्रेणीमें तो कुछ ऐसे महापुरुष हैं कि जो जीवभावसे मुक्त हो चुके हैं। दूसरे ऐसे लोग इस समय मिल सकते हैं कि जो दैवी

सम्पत्तिका आश्रय लिये हुए मुक्तिके मार्गमें स्थित हैं और मुक्तिके बहुत समीप पहुँच चुके हैं, सम्भव है कि उनकी इसी जन्ममें मुक्ति हो जाय या किसीको एक जन्म और भी धारण करना पड़े। ऐसे पुरुष भी जीवन्मुक्तोंकी भाँति काम-क्रोध और हर्ष-शोकके अधीन प्रायः नहीं होते।

प्रश्न—प्राचीन कालमें ऋषियोंके और महात्माओंके हर्ष-शोक हुए हैं, ऐसे लेख ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जिनको राग-द्वेषके कारण हर्ष-शोकका विकार होता है वे तो जीवन्मुक्त नहीं समझे जा सकते, परन्तु यदि कर्तव्यवश लोक-मर्यादाके लिये किसी-किसी अंशमें महात्माओंमें हर्ष-शोकका व्यवहार दीखता है तो कोई हानि नहीं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने तो सीताके हरण हो जानेपर और लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर बड़ा विलाप किया था, वह भी ऐसे शब्दोंमें और ऐसे भावसे कि जिसे देख-सुनकर बड़े-बड़े लोगोंको मोह-सा होने लगा था, किंतु वह केवल भगवान्‌का व्यवहार था और उसमें तो एक विलक्षण बात और भी थी। भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजी और लक्ष्मणके लिये व्याकुलतासे विलापकर जगत्‌को महान् प्रेमकी और अपने मृदु स्वभावकी बड़ी भारी शिक्षा दी थी। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें अपना यह स्वभाव बतलाया है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४।११)

'जो मेरेको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' इसीके अनुसार भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजीके लिये विलाप करते हुए वृक्षों, शाखाओं और पत्तोंसे समाचार पूछ-पूछकर यह सिद्ध कर दिया कि जिस तरहसे इस समय रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता रामके प्रेममें निमग्न होकर 'राम-राम' पुकार रही है उसी प्रकार राम भी सीताके प्रेम-बन्धनमें बँधकर प्रेमसे विह्वल हो 'सीता-सीता' पुकार रहे हैं। यों ही लक्ष्मणके लिये विलाप

कर भगवान् श्रीरामने यह सिद्ध कर दिया कि रामके लिये लक्ष्मण जिस प्रकार व्याकुल हो सकता है, उसी प्रकार राम भी आज लक्ष्मणके लिये व्याकुल हैं। इससे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भगवान्को हम जिस प्रकार भजेंगे भगवान् भी हमें उसी प्रकार भजनेके लिये तैयार हैं। यह तो भगवान्की बात हुई, पर ऋषि-महात्माओंमें भी लोक-व्यवहारमें हर्ष-शोकका-सा भाव हो सकता है।

जीवन्मुक्त और मुक्तिके समीप पहुँचे हुए लोगोंकी बात तो हुई। अब संसारमें ऐसे पुण्यात्मा सकाम योगी भी हैं कि जो—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

(गीता ८।२५)

इस श्लोकके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा अग्रसर होते हुए चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस लौट आते हैं।

पूर्वकालमें ऐसे योगी भी हुआ करते थे कि जिनको आठों प्रकारकी अथवा उनमेंसे कोई-कोई-सी सिद्धियाँ प्राप्त रहती थीं, वर्तमान कालमें यह विद्या लुप्तप्राय हो चुकी है। वास्तवमें केवल सिद्धियोंकी प्राप्तिसे परम कल्याण भी नहीं होता। सिद्धियोंसे सांसारिक सुख मिल सकते हैं परंतु मोक्ष नहीं मिलता, इसीलिये शास्त्रकारोंने इन सिद्धियोंको मोक्षका बाधक और जागतिक सुखोंका साधक माना है। सिद्धियोंको प्राप्त करनेवाले योगी प्रायः सिद्धियोंमें ही रह जाते हैं; परन्तु ऊपर कहे हुए मुक्तिके मार्गमें स्थित योगी तो मोक्षरूप परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं, इसीलिये उनका दर्जा इनसे बहुत ऊँचा है।

प्रश्न—आठ सिद्धियाँ कौन-सी हैं, कैसे प्राप्त होती हैं और उनसे क्या-क्या काम होते हैं?

****

उत्तर—सिद्धियोंके नाम अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व हैं। इनकी प्राप्ति अष्टाङ्गयोगके साधनसे होती है और इन सिद्धियोंसे इस प्रकार कार्य हो सकते हैं—

अणिमा—अपने स्वरूपको अणुके समान बना लेना, जैसे श्रीहनुमान्‌जी महाराजने लङ्कामें प्रवेश करनेके समय बनाया था।

गरिमा—शरीरको भारी वजनदार बना लेना, जैसे कर्णके बाण चलानेपर अर्जुनको बचानेके लिये सारथिरूपसे रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने बनाया था और अपने भारसे घोड़ोंसमेत रथको जमीनमें बैठा दिया था।

महिमा—शरीरको महान् विशाल बना लेना, जैसे भगवान् श्रीवामनजीने बनाया था।

लघिमा—शरीरको अत्यन्त हलका बना लेना।

प्राप्ति—इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त कर लेना, जैसे भरद्वाज मुनिने भरतजीके आतिथ्यके समय किया था।

प्राकाम्य—कामनाके अनुसार कार्य हो जाना।

ईशित्व—ईश्वरके समान सृष्टि-रचना करनेका सामर्थ्य हो जाना।

वशित्व—अपने प्रभावसे चाहे जिसको अपने वशमें कर लेना।

ये आठ सिद्धियाँ हैं, आजकल इन सिद्धियोंको प्राप्त किये हुए पुरुष देखनेमें नहीं आते। सत्य-भाषणसे वाणीका सत्य हो जाना आदि उपसिद्धियोंको प्राप्त हुए पुरुष तो कहीं-कहीं मिल सकते हैं।

प्रश्न—क्या सत्य बोलनेवालेकी वाणीसे निकले हुए सभी शब्द सत्य हो जाते हैं?

उत्तर—अवश्य हो जाते हैं, उपनिषद् और पुराणादिमें इसके अनेक प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमें ऐसा हुआ करता था। छोटे-से ऋषिकुमारने राजा परीक्षित्‌को शाप दे दिया था, तो उसीके अनुसार

ठीक समयपर साँपने आकर परीक्षित्‌को डस लिया। जब राजा नहुषने इन्द्रपदपर आरूढ़ होकर ऋषियोंको अपनी पालकीमें जोता और कामान्ध होकर इन्द्राणीके पास जाने लगा तथा **'शीघ्रं सर्प'** कहकर ऋषिको ठुकराया था, तब ऋषिने कहा था कि तुम सर्प हो जाओ, तदनुसार वह तुरंत साँप हो गया। प्रार्थना करनेपर फिर उसीको यह वरदान दिया कि द्वापरयुगमें भीमको पकड़नेपर महाराज युधिष्ठिरसे तुम्हारी भेंट होगी, तब तुम्हारा उद्धार होगा, यह वचन भी सत्य हुआ। अतएव यह सिद्ध होता है कि सत्यवादीके मुखसे निकला हुआ प्रत्येक शब्द सत्य होता है। हाँ, यदि कोई सत्यवादी कभी जान-बूझकर असत्य बोले तो उतने शब्द सत्य नहीं होते, जैसे महाराज युधिष्ठिरने जान-बूझकर अश्वत्थामाके मरनेकी सन्दिग्ध बात कही थी; तब अश्वत्थामा नहीं मरा; परन्तु यदि कोई केवल सत्य ही बोले तो उसकी वाणीके सत्य होनेमें कोई सन्देह नहीं।

आजकल कुछ ऐसे पुरुष भी मिल सकते हैं कि जिन लोगोंने मन और इन्द्रियोंको प्रायः वशमें कर लिया है, जिनको महीनोंतक स्त्रीके साथ एक शय्यापर सोते रहनेपर भी कामोद्रेक नहीं होता, भोजनकी चाहे जैसी सामग्री सामने होनेपर भी मन नहीं चलता, क्रोध और शोकके बड़े भारी कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध और शोक नहीं होता; परंतु ऐसा कोई महापुरुष मेरे देखनेमें नहीं आया कि जिसके दर्शन, स्पर्श, भाषण या चिन्तनसे ही मनुष्यका उद्धार हो जाय, जैसे श्रीनारदजी महाराजके दर्शन और उपदेशसे लाखों ही प्राणियोंका उद्धार हो गया, श्रीशुकदेवजीके उपदेशसे लाखोंका कल्याण हुआ, जीवन्मुक्त आचार्योंके चिन्तनसे अनेक शिष्योंका उद्धार हुआ और बंगालके श्रीचैतन्य-महाप्रभुके दर्शन, स्पर्श और उपदेशसे हजारोंका कल्याण हुआ। इतना अवश्य कह सकता हूँ कि यदि मनुष्य चाहे तो ऐसा अधिकारी बन सकता है कि जिसके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे ही लोगोंका उद्धार हो जाय।

सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय

भौतिक सुखसे हानि

इस समय क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित प्रायः अधिकांश जनसमुदाय सांसारिक भोग-विलासको ही सच्चा सुख समझकर केवल भौतिक उन्नतिकी चेष्टामें ही प्रवृत्त हो रहा है। इस परम सत्यको लोग भूल गये हैं कि यह विषयेन्द्रिय-संयोग-जनित भौतिक सुख नाशवान, क्षणिक और परिणाममें सर्वथा दुःखरूप है।

आजकल हमारे अनेक पाश्चात्त्य शिक्षाप्राप्त विद्वान् देशबन्धु जो अपनेको बड़े विचारशील, तर्कनिपुण और बुद्धिमान् समझते हैं, अंग्रेजोंके सहवाससे तथा उनकी विलासप्रियता और जड़-इन्द्रिय-चरितार्थताको देखकर पाश्चात्त्य सभ्यताकी माया-मरीचिकापर मोहित हो रहे हैं और वेद-शास्त्रकथित धर्मके सूक्ष्म तत्त्वको न समझकर प्राचीन आदर्श सभ्यताकी अवहेलना कर रहे हैं। उनके हृदयसे यह विश्वास प्रायः उठ गया है कि हमारे प्राचीन त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंकी विचारशीलता, तर्कपटुता और बुद्धिमत्ता हमलोगोंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी और उन्होंने हमारे उत्कर्षके लिये जो पथ बतलाया है वही हमलोगोंके लिये सच्चे सुखकी प्राप्तिका यथार्थ मार्ग है। ऐसे विचार रखनेवाले बन्धुओंको समझाकर अपने प्राचीन आदर्शकी ओर आकर्षित करनेकी विशेष आवश्यकता है और इसीसे सबका मङ्गल है।

प्रिय बन्धुगण ! विचार करनेपर आपको यह विदित हो जायगा कि पाश्चात्त्य सभ्यता वास्तवमें हमारे देश, धर्म, धन, सुख और हमारी जाति तथा आयुका विनाश करनेवाली है, इस सभ्यताके संसर्गसे ही आज हमारा देश अपने चिरकालीन धर्मपथसे विचलित होकर अधोगतिकी ओर जा रहा है। इसीसे आज हमारी धर्मप्राण जाति अनार्योचित कायरता और भोगपरायणता-की ओर अग्रसर होती हुई दिखायी दे रही है। इस प्रकार जो सभ्यता हमारे सांसारिक सुखोंका भी विनाश कर रही है, उससे सच्चे सुखकी आशा करना तो विडम्बनामात्र है।

जातिका नाश होता है अपने वेष-भूषा, खान-पान और आचारके त्याग देनेसे। जो जाति इन चारोंकी रक्षा करती हुई अपने आदर्शसे स्खलित नहीं होती उसे अस्तित्वका नाश होना असम्भव होता है। अतएव हमें अपने प्राचीन ऋषि-मुनियोंद्वारा आचरित रहन-सहन, वेष-भूषा और स्वभाव-सभ्यताका ही अनुकरण करना चाहिये। स्वधर्मका त्याग करना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना (भी) कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

मुसलमानोंके शासनके समय जब हिन्दुओंने उनके रहन-सहन और स्वभाव-सभ्यताकी नकल करना आरम्भ किया, तभीसे हिन्दूजाति और हिन्दूधर्मका ह्रास होने लगा। देखते-देखते आठ करोड़ हिन्दू भाई मुसलमानोंके रूपमें बदल गये। जो लोग गौ, ब्राह्मण और देव-मन्दिरोंके रक्षक थे, वे ही उलटे उन सबके शत्रु बन गये। यह सब मुसलमानी सभ्यताके और उनके आचार-विचारोंके अनुकरण करनेका ही दुष्परिणाम है।

इस समय भी सब ओर अंग्रेजी शिक्षाका ही विशेष प्रचार हो रहा है। इसी कारण हमारी जातिमें आज अंग्रेजी वेष-भूषा, खान-पान और आचार-विचारोंका बड़े जोरके साथ विस्तार हो रहा है। इसीके साथ-साथ हिन्दूधर्म और हिन्दूजातिका ह्रास तथा ईसाई-धर्मकी वृद्धि भी हो रही है। यह दुर्दशा हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। दूसरोंके अनुकरणमें अपने जातीय भावोंको छोड़नेका यही परिणाम हुआ करता है।

अतएव सबको यह बात निश्चितरूपसे समझ लेनी चाहिये कि पाश्चात्त्य-सभ्यता और उनका अनुकरण हमारे लिये किसी प्रकार भी हितकर नहीं है।

इससे हमारे धर्ममय भावोंका विनाश होता है और हमें केवल भौतिक उन्नतिके पीछे भटककर सच्चे लाभसे वञ्चित रहनेको बाध्य होना पड़ता है।

सच्चा सुख

विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ सकता है कि मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिसे कोई अत्यन्त ही उत्तम लाभ होना चाहिये। खाना, पीना, सोना, मैथुन करना आदि सांसारिक भोगजनित सुख तो पशु-कीटादितक नीच योनियोंमें भी मिल सकते हैं। यदि मनुष्य-जीवनकी आयु भी इसी सुखकी प्राप्तिमें चली गयी तो मनुष्य-जन्म पाकर हमने क्या किया? मनुष्य-जन्मका परम ध्येय तो उस अनुपमेय और सच्चे सुखको प्राप्त करना है, जिसके समान कोई दूसरा सुख है ही नहीं। वह सुख है 'श्रीपरमात्माकी प्राप्ति।'

साधनमें क्यों नहीं लगते ?

इतना होनेपर भी अधिकांश लोग केवल धन, स्त्री और पुत्रादि विषयजन्य सुख-को ही परमसुख मानकर उसीमें मोहित रहते हैं। असली सुखके लिये यत्न करनेवाले कर्तव्यपरायण पुरुष तो कोई बिरले ही निकलते हैं। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।'

भगवान्‌के कथनानुसार आजकल भी जो कुछ थोड़े-बहुत सज्जन इस सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, उनमेंसे भी बिरले ही आखिरी मंजिलतक पहुँचते हैं। अधिकांश साधक तो थोड़ा-सा साधन करके ही रुक जाते हैं। वे अपनेको अधिक उन्नत स्थितिमें नहीं ले जा सकते। मेरी समझसे इसमें निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) संसारमें इस सिद्धान्तके सुयोग्य प्रचारक कम हैं; क्योंकि इसके प्रचारक त्यागी, विद्वान्, सदाचारी, परिश्रमी और सच्चे महापुरुष ही हो सकते हैं।

(२) साधकगण थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य समझकर अधिक साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते।

(३) कुछ साधक थोड़ा-सा साधन करके उकता जाते हैं। इस साधनसे अपनी विशेष उन्नति नहीं समझकर वे 'किंकर्तव्यविमूढ़' हो जाते हैं।

(४) सच्चे सुखमें लोगोंकी श्रद्धा ही बहुत कम होती है। कारण, विषयसुखोंकी भाँति इसके साधनमें पहले ही सुख नहीं दीखता। इसीसे तत्परताका अभाव रहता है।

(५) कुछ लोग इस सुखका सम्पादन करना अपनी शक्तिसे बाहरकी बात समझते हैं, इसलिये वे निराश हो रहते हैं।

इनके सिवा और भी कई कारण बताये जा सकते हैं; परन्तु इन सबमें सच्चा कारण केवल अज्ञानता और अकर्मण्यता ही है। अतएव मनुष्यको सावधान होकर उत्साहके साथ कर्तव्यपरायण रहना चाहिये।

सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय

श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १। ३। १४)

'उठो (साधनके लिये प्रयत्नशील होओ), अज्ञान-निद्रासे जागो एवं श्रेष्ठ विद्वान् जिस मार्गको क्षुरकी तेज धारके समान दुर्लंघ्य, दुर्गम बताते हैं, उसको महापुरुषोंके पास जाकर समझो।'

अतएव इस भगवत्-साक्षात्काररूप परम कल्याण और परम सुखकी प्राप्तिके साधनमें किञ्चित् भी विलम्ब नहीं करना चाहिये। यही मनुष्य-जन्मका परम कर्तव्य है, यही सबसे बड़ा और सच्चा सुख है। इसी सुखकी महिमा बताते हुए भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥(६ । २१)
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(६ । २२)

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

(६ । २३)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है।'

'और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और भगवत्-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है।'

'और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

यद्यपि इस सच्चे सुखकी प्राप्तिका उपाय कुछ कठिन है, परन्तु असाध्य नहीं है। श्रीपरमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे तो कठिन होनेपर भी वह सर्वथा सरल, सुखसाध्य और अत्यन्त सहज हो जाता है। श्रीगीताजीमें भगवान् स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(९ । ३२-३३)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य (और) शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं। फिर क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन (परमगतिको) प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

अतएव साधकको चाहिये कि वह परमात्मापर दृढ़ विश्वास करके उसकी शरण ग्रहण कर अपनी उन्नतिके प्रतिबन्धक कारणोंको निम्नलिखित उपायोंसे दूर करनेकी चेष्टा करे।

(१) साधककी धारणामें उसे संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनके आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लग जाय। उनके वचनोंमें पूर्ण विश्वास रखे, उनके समीप जाकर फिर 'किंकर्तव्यविमूढ़' न रहे, अपनी बुद्धिको प्रधानता न दे, उनका बतलाया हुआ साधन यदि ठीक समझमें न आवे तो नम्रतापूर्वक पूछकर अपना समाधान कर ले और साधनमें लगनेपर भी यदि कुछ समयतक प्रत्यक्ष सुखकी प्रतीति न हो तो भी परिणाममें होनेवाले परम हितपर विश्वास करके उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कदापि विमुख न हो। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

(२) साधकको यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि मुझे यह साधन किसी दिन छोड़ देना है। उसको यही समझना चाहिये कि यह साधन ही मेरा परमधन, परमकर्तव्य, परमामृत, परमसुख और मेरे प्राणोंका परमाधार है। जो लोग यह समझते हैं कि परमात्माका ज्ञान होनेके बाद हमें साधनकी

क्या आवश्यकता है, वे भूल करते हैं। जिस साधनद्वारा अन्तःकरणको परम शान्ति प्राप्त हुई है, भला, वह उसे क्योंकर छोड़ सकता है? परमात्माकी प्राप्ति होनेके पश्चात् उस महापुरुषकी स्थिति देखकर तो दुराचारी मनुष्योंकी भी साधनमें प्रवृत्ति हो जाया करती है। जिन्हें देखकर साधनहीन जन भी साधनमें लग जाते हैं, उनकी अपनी तो बात ही कौन-सी है? इतना होनेपर भी जो पुरुष थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं, वे बड़ी भूलमें रहते हैं। भूलसे साधनमें बड़ा विघ्न होता है। यही भूल साधकका अधःपतन करनेवाली होती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

(३) साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि कर्तव्यपरायण, भगवत्-शरणागत पुरुषके लिये कोई भी कार्य दुःसाध्य नहीं है। वह बड़े-से-बड़ा काम भी सहजहीमें कर सकता है। यह शक्ति वास्तवमें प्रत्येक मनुष्यमें है। अपनी शक्तिका अभाव मानना मानो अपने-आपको नीचे गिराना है। उत्साही पुरुषके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य हो जाता है।

(४) प्रत्येक साधकको अपनी परीक्षा अपने-आप करते रहना चाहिये। सूक्ष्म दृष्टिसे विचारकर देखनेपर अपने छिपे हुए दोष भी प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं। साधकको देखना चाहिये कि मेरा मन अपने अधीन, शुद्ध, एकाग्र और विषयोंसे विरक्त हुआ या नहीं। कारण, जबतक मन और इन्द्रियोंपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता, तबतक परमात्माकी प्राप्ति बहुत दूर है। भगवान् कहते हैं कि—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है।'

अतएव साधकको सबसे पहले मनको अपने अधीन, शुद्ध और एकाग्र बनाना चाहिये* । इसके लिये शास्त्रोंमें प्रधानतः दो उपाय बतलाये गये हैं।

(१) अभ्यास और (२) वैराग्य।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६।३५)

'हे महाबाहो ! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे (यह) वशमें होता है।'

इसी प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१।१२)

'अभ्यास और वैराग्यसे उन (चित्तवृत्तियों)का निरोध होता है।'

अभ्यास और वैराग्यकी विस्तृत व्याख्या तो यथाक्रम उक्त ग्रन्थोंमें ही देखनी चाहिये, परन्तु भगवान्‌ने अभ्यासका स्वरूप मुख्यतया इस प्रकार बतलाया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६।२६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है, उस-उससे रोककर (बारम्बार) परमात्मामें ही निरोध करे।'

वैराग्यके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

---

* 'मनको वश करनेके कुछ उपाय' नामक पुस्तकमें मनको रोकनेके बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं। यह पुस्तक 'गीताप्रेस, गोरखपुर'में मिलती है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो यह इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्यसे मनको शुद्ध, अपने अधीन, एकाग्र और वैराग्यसम्पन्न बनाकर भगवान्‌के स्वरूपमें निरन्तर अचल-स्थिर कर देनेके लिये ध्यानका साधन करना चाहिये।

जैसे श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २४-२५)

'सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमें करके क्रम-क्रमसे (अभ्यास करता हुआ) उपरामताको प्राप्त होवे (तथा) धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

अभ्यास और वैराग्यके प्रभावसे मनके शुद्ध, स्वाधीन, एकाग्र और विरक्त हो जानेपर तो उसे परमात्माके चिन्तनमें लगाना परम सुगम हो ही जाता है, परन्तु उक्त दोनों उपायोंको पूर्णतया काममें न ला करके भी यदि मनुष्य केवल परमात्माकी शरण ग्रहण कर उसके नाम-जप और स्वरूप-चिन्तनमें तत्पर हो जाय तो इस प्रकारके अभ्याससे ही सब कुछ हो सकता

है। साधकका मन शीघ्र ही शुद्ध, एकाग्र और उसके अधीन हो सकता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

महर्षि पतञ्जलिने भी शीघ्रातिशीघ्र समाधि लगनेका उपाय बतलाते हुए कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'। (योग० १।२३)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य तो मनके निरोध करनेके उपाय हैं ही। जो साधक इन उपायोंको जितना अधिक काममें लाता है, उतना ही शीघ्र उसका मन निरुद्ध होता है। परन्तु ईश्वरप्रणिधानसे भी मन बहुत ही शीघ्र समाधिस्थ हो सकता है।

इससे यह माना जा सकता है कि जप, तप, व्रत, दान, लोकसेवा, सत्सङ्ग और शास्त्रोंका मनन आदि समस्त साधन इसी ध्यानके लिये ही बतलाये और किये जाते हैं।

अतएव सच्चे सुखकी प्राप्तिका साक्षात्, सरल और सबसे सुलभ उपाय परमात्माके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही है। इसीको शास्त्रकारोंने ध्यान, स्मरण और निदिध्यासन आदि नामोंसे कहा है। कर्मयोग और सांख्ययोग आदि सभी साधनोंमें परमात्माका ध्यान प्रधान है।

साधन-कालमें अधिकारी-भेदसे ध्यानके साधनमें भी अनेक भेद होते हैं। सभी मनुष्योंकी रुचि एक प्रकारके साधनमें नहीं हुआ करती। एक ही गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके लिये अनेक मार्ग हुआ करते हैं। इसी प्रकार फलरूपमें एक ही परम वस्तुकी प्राप्ति होनेपर भी साधनके प्रकारोंमें अन्तर रहता है। कोई एकत्वभावसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके निराकार रूपका ध्यान करते हैं तो कोई स्वामी-सेवक-भावसे सर्वव्यापी परमेश्वरका चिन्तन करते हैं। कोई भगवान् विश्वरूपका तो कोई चतुर्भुज श्रीविष्णुरूपका, कोई मुरलीमनोहर श्रीकृष्णरूपका तो कोई मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामरूपका और कोई कल्याणमय श्रीशिवरूपका ही ध्यान करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

(गीता ९।१५)

अतएव जिस साधककी परमात्माके जिस रूपमें अधिक प्रीति और श्रद्धा हो, वह निरन्तर उसीका चिन्तन किया करे। परिणाम सबका एक ही है, परिणामके सम्बन्धमें किञ्चित् भी संशय रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

साधकोंकी प्रायः दो श्रेणियाँ होती हैं। एक अभेदरूपसे अर्थात् एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवालोंकी और दूसरी स्वामी-सेवकभावसे भक्ति करनेवालोंकी। इनमेंसे अभेदरूपसे उपासना करनेवालोंके लिये तो केवल एक शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर एकत्व भावसे स्थित रहना ध्यानका सर्वोत्तम साधन है। परन्तु दूसरे, स्वामी-सेवक-भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंके लिये शास्त्रोंमें ध्यानके बहुत प्रकार बतलाये गये हैं।

ध्यान करनेकी पद्धति नहीं जाननेके कारण ध्यान ठीक नहीं होता, साधक चाहता तो है परमात्माका ध्यान करना, परन्तु उसका ध्यान होता है जगत्का। यह शिकायत प्रायः देखी और सुनी जाती है। इसलिये परमात्मामें मन जोड़नेकी जो विधियाँ हैं, उन्हें जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। शास्त्रकारोंने अनेक प्रकारसे ध्यानकी विधियोंके बतलानेकी चेष्टा की है। उनमेंसे कुछ दिग्दर्शन यहाँ संक्षेपमें करवाया जाता है।

यों तो परमात्माका चिन्तन निरन्तर उठते, बैठते, चलते, खाते, पीते, सोते, बोलते और सब तरहके काम करते हुए हर समय ही करना चाहिये। परन्तु साधक खास तौरपर जब ध्यानके निमित्तसे बैठे, उस समय तो गौणरूपसे भी उसे अपने अन्तःकरणमें सांसारिक सङ्कल्पोंको नहीं उठने देना चाहिये तथा एकान्त और शुद्ध देशमें बैठकर ध्यानका साधन आरम्भ कर देना चाहिये।

श्रीगीताजीमें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

(६ । ११-१२)

'शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपर्युपरि जिसके, ऐसे अपने आसनको न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किए हुए अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

(गीता ६ । १३)

'काया, सिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखकर* अन्य दिशाओंको न देखता हुआ परमेश्वरका ध्यान करे।'

ध्यान करनेवाले साधकको यह बात विशेषरूपसे जान रखनी चाहिये कि जबतक अपने शरीरका और संसारका ज्ञान रहे तबतक ध्यानके साथ नाम-जपका अभ्यास अवश्य करता रहे। नाम-जपका सहारा नहीं रहनेपर बहुत समयतक नामीके स्वरूपमें मन नहीं ठहरता। निद्रा, आलस्य और अन्यान्य सांसारिक स्फुरणाएँ विघ्नरूपसे आकर मनको घेर लेती हैं। नामीको याद दिलानेका प्रधान आधार नाम ही है। नाम नामीके रूपको कभी भूलने नहीं देता। नामसे ध्यानमें पूर्ण सहायता मिलती है। अतएव ध्यान करते

---

* इसमें दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखनेके लिये कहा गया है; परन्तु जिन लोगोंको आँखें बंद करके ध्यान करनेका अभ्यास हो, वे आँखें बंद करके भी कर सकते हैं, इसमें कोई हानि नहीं है।

समय जबतक ध्येयमें सम्पूर्ण रूपसे तल्लीनता न हो जाय, तबतक नाम-जप कभी नहीं छोड़ना चाहिये। यह तो ध्यानके सम्बन्धमें साधारण बातें हुईं। अब ध्यानकी कुछ विधियाँ लिखी जाती हैं।

अभेदोपासनाके अनुसार ध्यानकी विधि

एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवाले साधकको चाहिये कि वह उपर्युक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर मनमें रहनेवाले सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका त्याग करके इस प्रकार भावना करे।

(१) एक आनन्दघन ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उस ब्रह्मका ज्ञान भी उस ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता। इसलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं, वह सीमारहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो कुछ भी है वह सभी उस ब्रह्ममें आरोपित और ब्रह्मस्वरूप ही है। वास्तवमें एक पूर्ण ब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण संसार स्वप्नके सदृश उस परमात्मामें कल्पित है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

'ब्रह्म सत्य, चेतन और अनन्त है' इस श्रुतिके अनुसार वह आनन्दघन, सत्यरूप, बोधस्वरूप परमात्मा है, 'बोध' उससे भिन्न कोई उसका गुण या उसकी कोई उपाधि या शक्तिविशेष नहीं है। इसी प्रकार 'सत्' भी उससे कोई भिन्न गुण नहीं है। वह सदासे है और सदा ही रहता है, इसलिये लोक और वेदमें उसे 'सत्' कहते हैं, वास्तवमें तो वह परमात्मा सत् और असत् दोनोंसे परे है।

'न सत्तन्नासदुच्यते।' (गीता १३। १२)

इस प्रकार अन्तःकरणमें ब्रह्मके अचिन्त्य स्वरूपकी दृढ़ भावना करके जपके स्थानमें बारम्बार निम्नलिखित प्रकारसे परमात्माके विशेषणोंकी मन-ही-मन भावना और उनका उच्चारण करता रहे। वास्तवमें ब्रह्म नाम-रूपसे परे हैं, परन्तु उसके आनन्द-स्वरूपकी स्फूर्तिके लिये इन विशेषणोंकी

कल्पना है। अतएव साधक चित्तकी समस्त वृत्तियोंको आनन्दरूप ब्रह्ममें तल्लीन करता हुआ 'पूर्ण आनन्द', 'अपार आनन्द', 'शान्त आनन्द', 'घन आनन्द', 'बोधस्वरूप आनन्द', 'ज्ञानस्वरूप आनन्द', 'परम आनन्द', 'नित्य आनन्द', 'सत् आनन्द', 'चेतन आनन्द', 'आनन्द-ही-आनन्द', 'एक आनन्द-ही-आनन्द' इस प्रकार ब्रह्मके विशेषणोंका चिन्तन करता हुआ इस भावनाको उत्तरोत्तर दृढ़ करता रहे कि एक 'आनन्द'के सिवा और कुछ भी नहीं है। इसके साथ ही वह अपने मनको बड़ी तेजीसे उस आनन्दमय ब्रह्ममें तन्मय करता हुआ उन सम्पूर्ण विशेषणोंको उस आनन्दमय परमात्मासे अभिन्न समझता रहे। इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त सङ्कल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका सङ्कल्प मनमें नहीं रहता है, तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चलताके साथ होती है। इस प्रकारसे ध्यानका नित्य-नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्द-घन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है। फिर साधक, साधना और साध्य सभी अभिन्न, सभी एक आनन्दस्वरूप हो जाते हैं, फिर उसकी वह स्थिति सदाके लिये वैसी ही बनी रहती है। चलना-फिरना, उठना-बैठना तथा अन्य सम्पूर्ण कार्योंके यथाविधि और यथासमय होते हुए भी उसकी स्थितिमें किञ्चित् भी अन्तर नहीं पड़ता। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६।३१)

'जो पुरुष, एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है; क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

वास्तवमें वह किसी भी समय संसारको या अपनेको ब्रह्मसे अलग नहीं देखता। इसीलिये उसका पुनः कभी जन्म नहीं होता। वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है। गीतामें कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(५।१७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी (तथा) तद्रूप है मन जिनका (और) उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।' यही उपर्युक्त ध्यानका फल है।

अभेदोपासनाके ध्यानकी दूसरी युक्ति

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

(कठ० १।३।१३)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह वाणी आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंका मनमें निरोध करे, मनका बुद्धिमें निरोध करे, बुद्धिका महत्तत्त्वमें अर्थात् समष्टि-बुद्धिमें निरोध करे और उस समष्टि-बुद्धिका निरोध शान्तात्मा परमात्मामें करे।'

एकान्त स्थानमें बैठकर दसों इन्द्रियोंके विषयोंका उनके द्वारा ग्रहण न करना अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारको रोककर मनके द्वारा केवल परमात्माके स्वरूपका बारम्बार मनन करते रहना ही 'वाणी आदि इन्द्रियोंका मनमें 'निरोध' करना है। इसके बाद मनन किये हुए परमात्माके स्वरूपके विषयमें जितने भी विकल्प हैं, उन सबको छोड़कर एक निश्चयपर स्थित होकर चित्तका शान्त हो जाना यानी अन्तःकरणमें किसी भी चञ्चलात्मक वृत्तिका किञ्चित् भी अस्तित्व न रहकर एकमात्र विज्ञानका प्रकाशित हो जाना 'मनका बुद्धिमें निरोध' करना है। ध्यानकी इस प्रकारकी स्थितिमें ध्याताको अपना और ध्येय वस्तु परमात्माका बोध रहता है, परन्तु इसके बाद जब उस

सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके स्वरूपका निश्चय करनेवाली बुद्धि-वृत्तिकी स्वतन्त्र सत्ता भी समष्टिज्ञानमें तन्मय हो जाती है, जब ध्याता, ध्यान और ध्येयका समस्त भेद मिटकर केवल एक ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपका ही बोध रह जाता है; इसी अवस्थाको 'बुद्धिका समष्टि-बुद्धिमें निरोध' करना कहते हैं।

इसके अनन्तर एक और अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका भिन्न संस्कारमात्र भी शेष नहीं रहता। केवल एक शुद्ध, बोधस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है, उसके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता किसी प्रकारसे भी नहीं रहती। इसीका नाम समष्टि-बुद्धिका शान्तात्मामें निरोध करना है।

इसीको निर्बीज समाधि, शुद्धब्रह्मकी प्राप्ति या कैवल्य-पदकी प्राप्ति कहते हैं। यही अन्तिम स्थिति है। वाणी इस अवस्थाका वर्णन नहीं कर सकती, मन इसका मनन नहीं कर सकता; क्योंकि यह मन, वाणी और बुद्धिके परेका विषय है, यही मोक्ष है।

इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता।

श्रीगीताजीमें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (३।१७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट होवे, उसके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।'

अभेदोपासनाके अनुसार परमात्माका ध्यान करनेके और भी बहुत-से प्रकार हैं, परन्तु लेखका आकार बढ़ जानेके कारण और नहीं लिखे जाते हैं। सबका आशय प्रायः एक ही है। एकत्वभावसे उपासना करनेवालेके लिये श्रीगीताजीके इस श्लोकको निरन्तर स्मरण रखना अत्यन्त लाभप्रद है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ (१३।१५)

'(वह परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर तथा भीतर परिपूर्ण है, चर-अचररूप भी (वही) है, वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय[१] है तथा अति समीपमें[२] और दूरमें[३] भी वही स्थित है।'

अतएव जिनकी अभेदोपासनामें रुचि हो, उन साधकोंको उपर्युक्त प्रकारके साधनमें शीघ्र ही तत्पर होना चाहिये।

विश्वरूप परमात्माके ध्यानकी विधि

एकान्त स्थानमें आँखें बंद करके बैठनेपर भी यदि इस मायामय संसारकी कल्पना साधकके हृदयसे दूर न हो तो उसे इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये—

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ—इन तीनों लोकोंमें जो कुछ भी देखने, सुनने और मनन करनेमें आता है सो सब साक्षात् श्रीपरमात्माका ही स्वरूप है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी मायाशक्तिसे विश्वरूपमें प्रकट हुए हैं। जैसे गीताजीमें कहा है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ (१३।१३)

'वह सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओरसे नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है; क्योंकि वह सब संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'*

---

१. जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता।

२. वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है।

३. श्रद्धारहित अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है।

* आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को व्याप्त करके स्थित है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (१०।४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ। इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (१०।३९)

'हे अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा वह चर-अचर कोई भी भूत नहीं है कि जो मुझसे रहित हो, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।'

इस प्रकार बारम्बार मनन करके सम्पूर्ण संसारको तत्त्वसे श्रीपरमात्माका स्वरूप समझकर परमात्माके निश्चितरूपमें मनको निश्चल करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनकी चञ्चलताका सहजमें ही नाश हो जाता है। फिर मन जहाँ जाता है, वहीं उसे वह परमात्मा दीखता है। एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं भासता। जैसे जलसे बने हुए अनेक प्रकारके बर्फके खिलौनोंको जो तत्त्वसे जलस्वरूप समझ लेता है, उसे फिर उनके जल होनेमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता, उसे सभी खिलौने प्रत्यक्ष जलस्वरूप दीखने लगते हैं। इसी तरह उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माका ध्यान करनेवाले साधकको भी सम्पूर्ण विश्व परमात्मस्वरूप दीखने लगता है। उसकी भावनामें जगत्‌रूप किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता। मन शान्त और संशयरहित हो जाता है, चञ्चल चित्तको परमात्मामें लगानेका यह एक सहज उपाय है।

श्रीविष्णुके चतुर्भुज रूपका ध्यान करनेकी विधि

एकान्त स्थानमें पूर्वोक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर आँखें मूँद ले और आनन्दमें मग्न होकर अपने उस परम प्रेमीके मिलनकी तीव्र लालसासे ध्यानका साधन आरम्भ करे।

मन्दिरोंमें भगवान्‌की मूर्तिका दर्शनकर, भगवान्‌के चित्रोंका अवलोकन

कर, संत-महात्माओंके द्वारा सुनकर या सौभाग्यवश स्वप्नमें प्रभुके दर्शनकर भगवान्‌के जैसे साकार रूपको बुद्धि मानती हो, यानी भगवान्‌का साकाररूप साधककी समझमें जैसा आया हो, उसीकी भावना करके ध्यान करना चाहिये। साधारणतः भगवान्‌की मूर्तिके ध्यानकी भावना इस प्रकार की जा सकती है—

(१) भूमिसे करीब सवा हाथकी ऊँचाईपर आकाशमें अपने सामने ही भगवान् विराजमान हैं। भगवान्‌के अतिशय सुन्दर चरणारविन्द नीलमणिके ढेरके समान चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं। चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ हैं और उनपर स्वर्णके रत्नजटित नूपुर शोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के जैसे चरणकमल हैं, वैसे ही उनके जानु और जङ्घा आदि अङ्ग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके अंदरसे चमक रहे हैं। अहो ! अत्यन्त सुन्दर चार लंबी-लंबी भुजाएँ शोभा दे रही हैं। ऊपरकी दोनों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र और नीचेकी दोनों भुजाओंमें गदा और पद्म विराजमान हैं। चारों भुजाओंमें केयूर और कड़े आदि एक-से-एक सुन्दर आभूषण सुशोभित हैं। अहो ! अत्यन्त विशाल और परम सुन्दर भगवान्‌का वक्षःस्थल है, जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताका चिह्न अङ्कित हो रहा है। नीलकमलके समान सुन्दर वर्णवाली भगवान्‌की ग्रीवा अत्यन्त सुन्दर है और वह रत्नजटित हार, कौस्तुभमणि तथा अनेक प्रकारके मोतियोंकी, स्वर्णकी, भाँति-भाँतिके सुन्दर दिव्य गन्ध-पुष्पोंकी और वैजयन्ती मालाओंसे सुशोभित है। सुन्दर चिबुक (ठुड्डी), लाल-लाल ओष्ठ और मनोहर नुकीली नासिका है, जिसके अग्रभागमें दिव्य मोती लटक रहा है। भगवान्‌के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके पुष्पके सदृश खिले हुए हैं। कानोंमें रत्नमण्डित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारण तिलक तथा शीशपर मनोहर मणिमुक्तामय किरीट-मुकुट शोभायमान हो रहे हैं। अहो ! भगवान्‌का अतुलनीय मनोहर मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रकी शोभाको लजाता हुआ मनको हरण कर रहा है। मुखमण्डलके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणें

देदीप्यमान हैं, जिनके प्रकाशसे भगवान्‌के मुकुटादि सम्पूर्ण आभूषणोंके रत्न सहस्र-सहस्रगुण अधिक चमक रहे हैं। अहो ! आज मैं धन्य हूँ ! धन्य हूँ ! जो मन्द-मन्द हँसते हुए परमानन्दमूर्ति हरि भगवान्‌का ध्यान कर रहा हूँ।

इस प्रकार भावना करते-करते जब भगवान्‌के स्वरूपकी भलीभाँति दृढ़ धारणा हो जाय, तब प्रेममें विह्वल होकर साधकको भगवान्‌के उस मनमोहन-स्वरूपमें चित्तको स्थिर कर देना चाहिये। ध्यानका अभ्यास करते-करते जब साधकको अपना और संसारका एवं ध्यानका भी ज्ञान नहीं रहता, केवल एकमात्र ध्येयरूप मनमोहन भगवान्‌का ही ज्ञान रह जाता है, तब साधककी भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि हो जाती है। ऐसा होनेपर साधक तत्काल ही भगवान्‌के वास्तविक तत्त्वको जान जाता है और तब भगवान् उसके प्रेमवश हो साक्षात् साकाररूपमें प्रकट होकर उसे अपने दर्शनसे कृतार्थ करनेको बाध्य होते हैं।

श्रीभगवान्‌ने कहा भी है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज स्वरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इस प्रकार भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद वह भक्त कृतकृत्य हो जाता है, उसके सम्पूर्ण अवगुण नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्ण महात्मा बन जाता है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

श्रीगीताजीमें कहा है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (८। १५)

'परमसिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखके स्थानरूप क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

दूसरी विधि

(२) अपने हृदयाकाशमें शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए श्रीविष्णुभगवान्‌का चिन्तन करते-करते निम्नलिखित रूपसे मन-ही-मन उनके स्वरूप और गुणोंकी भावना करते हुए उन्हें बारम्बार नमस्कार करना चाहिये।

जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषजीकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनके नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका मनोहर नील वर्ण है, अत्यन्त सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र भगवान् विष्णुको मैं अब नतमस्तक होकर प्रणाम करता हूँ।*

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वीतलोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जिनमें गम्भीरता है, जिनकी

---

* वन्दौं विष्णु विश्वाधार ! ॥

लोकपति, सुरपति, रमापति, सुभग शान्ताकार।
कमल-लोचन, कलुष-हर, कल्याण-पद-दातार॥
नील-नीरद-वर्ण, नीरज-नाभ नभ-अनुहार।
भृगुलता-कौस्तुभ सुशोभित हृदय मुक्ताहार॥
शङ्ख-चक्र-गदा-कमलयुत भुज विभूषित चार।
पीत-पट-परिधान पावन अङ्ग-अङ्ग उदार॥
शेष-शय्या-शयित योगी-ध्यान-गम्य अपार।
दुःखमय भव-भय-हरण अशरण-शरण अविकार॥

('पत्रपुष्प'से उद्धृत)

किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं दे सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवलमात्र कल्पना ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे उन अनुपमेय श्रीहरिभगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णुभगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, जिनके समस्त अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई परम शोभा दे रही हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरिभगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है, इस तरह अभ्यास करते-करते जब चित्त शान्त, निर्मल और प्रसन्न हो जाय तब अपने मनको उन शेषशायी भगवान् नारायणदेवके ध्यानमें अचल कर देना चाहिये।

परमात्माके साकार और निराकार स्वरूपका ध्यान करनेके और भी बहुत-से साधन हैं, यहाँ केवल कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इस विषयका विशेष ज्ञान तो श्रीपरमात्मा और महात्माओंकी शरण ग्रहणकर साधनमें तत्पर होनेसे ही प्राप्त होता है। साकारके ध्यानमें यहाँ केवल श्रीविष्णुभगवान्‌के दो प्रकार बतलाये गये हैं। साधकगण इसी प्रकार अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रीतिके अनुसार श्रीराम, कृष्ण और शिव आदि भगवान्‌के अन्यान्य स्वरूपोंका भी ध्यान कर सकते हैं। फल सबका एक ही है।

एकान्त देशसे उठनेके बाद व्यवहारकालमें भी चलते-फिरते, उठते-बैठते सब समय अपने इष्टदेवके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन उसी प्रकार करते रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जीवनके अमूल्य समयका एक क्षण भी श्रीभगवान्‌के स्मरणसे रहित नहीं जाना चाहिये। जीवनमें सदा-सर्वदा जैसा अभ्यास होता है, अन्तमें भी उसीकी स्मृति रहती है और अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार ही उसकी गति होती है। इसीसे भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(८।७)

'इसलिये (हे अर्जुन! तू) सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और

युद्ध भी कर। इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ (तू) निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म भगवान्‌के ध्यानसे साधकका हृदय पवित्र और निर्मल होता चला जाता है। सम्पूर्ण चिन्ताओंका विनाश होकर अन्तःकरणमें एक विलक्षण शान्तिकी स्थापना होती है। चित्त एकाग्र और अपने अधीन हो जाता है। साधनकी वृद्धिसे ज्यों-ज्यों अन्तःकरणकी निर्मलता और एकाग्रता बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों सच्चे आनन्दकी भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। सच्चे सुखका जब साधकको जरा-सा भी अनुभव मिल जाता है तब उसे उस सुखके सामने त्रिलोकीके राज्यका सुख भी अत्यन्त तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगता है। इस स्थितिमें साधारण भोगजनित मिथ्या सुखोंकी तो वह बात ही नहीं पूछता; बल्कि भोगविलास तो उस साधकको नाशवान्, क्षणिक और प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकारके साधनसे साधककी वृत्तियाँ बहुत ही शीघ्र संसारसे उपराम होकर भगवान्‌के स्वरूपमें अटल और स्थिर हो जाती हैं। साधक उस सच्चे और अपार आनन्दको सदाके लिये प्राप्त होकर तृप्त हो जाता है। उसके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है।

प्रिय पाठकगण ! हमें इस बातका दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म सर्वशक्तिमान् आनन्दकन्द भगवान्‌का साक्षात् करना ही है। यही इस लोक और परलोकमें सबसे महान्, नित्य और सत्य सुख है। इसको छोड़कर अन्यान्य जितने भी सांसारिक सुख प्रतीत होते हैं वे वास्तवमें सुख नहीं हैं। केवल मोहसे उनमें सुखकी मिथ्या प्रतीति होती है, वास्तवमें वे सब दुःख ही हैं। योगदर्शनमें कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२।१५)

'संसारके समस्त विषयजन्य सुख परिणाम, ताप, संस्कार और सांसारिक दुःखोंसे मिले हुए होने तथा सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंकी वृत्तियोंके

परस्पर विरोधी होनेके कारण विवेकी पुरुषोंके लिये दुःखमय ही हैं।'

अतएव इन क्षणिक, नाशवान् और कृत्रिम सुखोंको सर्वथा परित्याग कर हमें अत्यन्त शीघ्र तत्पर होकर उस सच्चे सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें उत्साह और दृढ़तापूर्वक लग जाना चाहिये।

भगवान् क्या हैं ?

भगवान् क्या हैं ? इस सम्बन्धमें मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, वह मेरे अपने निश्चयकी बात है, हो सकता है कि मेरा निश्चय ठीक न हो, मैं यह नहीं कहता कि दूसरोंका निश्चय ठीक नहीं है, परंतु मुझे अपने निश्चयमें कोई सन्देह नहीं है। मैं इस विषयमें संशयात्मा नहीं हूँ तथापि दूसरोंके निश्चयको गलत बतानेका मुझे कोई अधिकार नहीं है।

भगवान् क्या हैं ? इन शब्दोंका वास्तविक उत्तर तो यही है कि इस बातको भगवान् ही जानते हैं। इसके सिवा भगवान्‌के विषयमें उन्हें तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी पुरुष उनके तटस्थ अर्थात् नजदीकका कुछ भाव बतला सकता है। वास्तवमें तो भगवान्‌के स्वरूपको भगवान् ही जानते हैं। तत्त्वज्ञ लोग संकेतके रूपमें भगवान्‌के स्वरूपका कुछ वर्णन कर सकते हैं; परन्तु जो कुछ जानने और वर्णन करनेमें आता है, वास्तवमें भगवान् उससे और भी विलक्षण हैं। वेद, शास्त्र और मुनि-महात्मा परमात्माके सम्बन्धमें सदासे कहते ही आ रहे हैं, किन्तु उनका वह कहना आजतक पूरा नहीं हुआ। अबतकके उनके सब वचनोंको मिलाकर या अलग-अलग कर, कोई परमात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन करना चाहे, तो उसके द्वारा भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता। अधूरा ही रह जाता है। इस विवेचनमें यह तो निश्चय हो गया कि भगवान् हैं अवश्य; उनके होनेमें रत्तीभर भी शंका नहीं है, यह दृढ़ निश्चय है। अतएव जो आदमी भगवान्‌को अपने मनसे जैसा समझकर साधन कर रहे हैं, उसमें परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु सुधार

कर लेना चाहिये। वास्तवमें साधन करनेवालोंमें कोई भी भूलमें नहीं हैं या एक तरहसे सभी भूलमें हैं। जो परमात्माके लिये साधन करता है, वह उसीके मार्गपर चलता है, इसलिये कोई भूलमें नहीं हैं और भूलमें इसलिये हैं कि जिस किसी एक वस्तुको साध्य या ध्येय मानकर वे उसकी प्राप्तिका साधन करते हैं, उनके उस साध्य या ध्येयसे वास्तविक परमात्माका स्वरूप अत्यन्त ही विलक्षण है। जो जानने, मानने और साधन करनेमें आता है वह तो ध्येय परमात्माको बतानेवाला सांकेतिक लक्ष्य है। इसलिये जहाँतक उस ध्येयकी प्राप्ति नहीं होती, वहाँतक सभी भूलमें हैं ऐसा कहा गया है; परन्तु इससे यह नहीं मानना चाहिये कि पहले भूलको ठीक करके फिर साधन करेंगे। ठीक तो कोई कर ही नहीं सकता, यथार्थ प्राप्तिके बाद आप ही ठीक हो जाता है। इससे पहले जो होता है, सो अनुमान होता है और उस अनुमानसे जो कुछ किया जाता है वही उसकी प्राप्तिका ठीक उपाय है। जैसे एक आदमी द्वितीयाके चन्द्रमाको देख चुका है, वह दूसरे न देखनेवालोंको इशारेसे बतलाता है कि तू मेरी नजरसे देख, उस वृक्षसे चार अंगुल ऊँचा चन्द्रमा है। इस कथनसे उसका लक्ष्य वृक्षकी ओरसे होकर चन्द्रमातक चला जाता है और वह चन्द्रमाको देख लेता है। वास्तवमें न तो वह उसकी आँखमें घुसकर ही देखता है और न चन्द्रमा उस वृक्षसे चार अंगुल ऊँचा ही है और न चन्द्रमण्डल जितना छोटा वह देखता है, उतना छोटा ही है। परन्तु लक्ष्य बँध जानेसे वह उसे देख लेता है। कोई-कोई द्वितीयाके चन्द्रमाका लक्ष्य करानेके लिये सरपतसे बतलाते हैं, कोई इससे भी अधिक लक्ष्य करानेके लिये चूनेसे लकीर खींचकर या चित्र बनाकर उसे दिखाते हैं, परन्तु वास्तवमें चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपसे इनकी कुछ भी समता नहीं है। न तो इनमें चन्द्रमाका प्रकाश ही है, न ये उतने बड़े ही हैं और न इनमें चन्द्रमाके अन्य गुण ही हैं। इसी प्रकार लक्ष्यके द्वारा देखनेपर भगवान् देखे या जाने जा सकते हैं। वास्तवमें लक्ष्य और उनके असली स्वरूपमें वैसा ही अन्तर है कि जैसा चन्द्रमा और उसके लक्ष्यमें। चन्द्रमाका स्वरूप तो

शायद कोई योगी बता भी सकता है, परन्तु भगवान्‌का स्वरूप कोई भी बता नहीं सकता; क्योंकि यह वाणीका विषय नहीं है। यह तो जब प्राप्त होगा, तभी मालूम होगा। जिसको प्राप्त होगा वह भी उसे समझा नहीं सकेगा। यह तो असली स्वरूपकी बात हुई। अब यह बतलाना है कि साधकके लिये यह ध्येय या लक्ष्य किस प्रकारका होना चाहिये और वह किस प्रकार समझा जा सकता है। इस विषयमें महात्माओंसे सुनकर और शास्त्रोंको सुन और देखकर, मेरे अनुभवमें जो बातें निश्चयात्मकरूपसे जँची हैं, वही बतलायी जाती हैं। किसीकी इच्छा हो तो वह उन्हें काममें ला सकता है।

परमात्माके असली स्वरूपका ध्यान तो वास्तवमें बन नहीं सकता। जबतक नेत्रोंसे, मनसे और बुद्धिसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव न हो जाय, तबतक जो ध्यान किया जाता है, वह अनुमानसे ही होता है। महात्माओंके द्वारा सुनकर, शास्त्रोंमें पढ़कर, चित्रादि देखकर साधन करनेसे साधकको परमात्माके दर्शन हो सकते हैं। पहले यह बात कही जा चुकी है कि जो परमात्माका जिस प्रकार ध्यान कर रहे हैं, वे वैसा ही करते रहें, परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं। कुछ सुधारकी आवश्यकता अवश्य है।

ध्यान कैसे करना चाहिये ?

कुछ लोग निराकार शुद्ध ब्रह्मका ध्यान करते हैं, कुछ साकार दो भुजावाले और कुछ चतुर्भुजधारी भगवान् विष्णुका ध्यान करते हैं, वास्तवमें भगवान् विष्णु, राम और कृष्ण जैसे एक हैं, वैसे ही देवी, शिव, गणेश और सूर्य भी उनसे कोई भिन्न नहीं। ऐसा अनुमान होता है कि लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणाके अनुसार एक ही परमात्माका निरूपण करनेके लिये, श्रीवेदव्यासजीने अठारह पुराणोंकी रचना की है, जिस देवके नामसे जो पुराण बना, उसमें उसीको सर्वोपरि, सृष्टिकर्ता, सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर बतलाया गया। वास्तवमें नाम-रूपके भेदसे सबमें उस एक ही परमात्माकी बात कही गयी है। नाम-रूपकी भावना साधक अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं, यदि कोई एक स्तम्भको ही परमात्मा मानकर उसका ध्यान करे तो वह भी परमात्माका ही

ध्यान होता है, अवश्य ही लक्ष्यमें ईश्वरका पूर्ण भाव होना चाहिये।

साकार और निराकारके ध्यानमें साकारकी अपेक्षा निराकारका ध्यान कुछ कठिन है, फल दोनोंका एक ही है, केवल साधनमें भेद है। अतएव अपनी-अपनी प्रीतिके अनुसार साधक निराकार या साकारका ध्यान कर सकते हैं।

निराकारके उपासक साकारके भावको साथमें न रखकर केवल निराकारका ही ध्यान करें, तो भी कोई आपत्ति नहीं, परन्तु साकारका तत्त्व समझकर परमात्माको सर्वदेशी, विश्वरूप मानते हुए निराकारका ध्यान करें तो फल शीघ्र होता है। साकारका तत्त्व न समझनेसे कुछ विलम्बसे सफलता होती है।

साकारके उपासकको निराकार, व्यापक ब्रह्मका तत्त्व जाननेकी आवश्यकता है, इसीसे वह सुगमतापूर्वक शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है। भगवान्‌ने गीतामें प्रभाव समझकर ध्यान करनेकी ही बड़ाई की है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

'हे अर्जुन! मेरेमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन, ध्यानमें लगे हुए* जो भक्तजन, अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मेरेको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

वास्तवमें निराकारके प्रभावको जानकर जो साकारका ध्यान किया जाता है, वही भगवान्‌की शीघ्र प्राप्तिके लिये उत्तम और सुलभ साधन है। परन्तु परमात्माका असली स्वरूप इन दोनोंसे ही विलक्षण है, जिसका ध्यान नहीं किया जा सकता। निराकारके ध्यान करनेकी कई युक्तियाँ हैं। जिसको जो सुगम मालूम हो, वह उसीका अभ्यास करे। सबका फल एक ही है।

---

* अर्थात् गीता अध्याय ११।५५ में बताये हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमें लगे हुए।

कुछ युक्तियाँ यहाँपर बतलायी जाती हैं।

साधकको श्रीगीताके अ० ६, श्लोक ११ से १३ के अनुसार, एकान्त स्थानमें स्वस्तिक या सिद्धासनसे बैठकर, नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखकर या आँखें बंदकर (अपने इच्छानुसार) नियमपूर्वक प्रतिदिन कम-से-कम तीन घंटेका समय ध्यानके अभ्यासमें बिताना चाहिये। तीन घंटे कोई न कर सके तो दो घंटे करे, दो नहीं तो एक घंटे अवश्य ध्यान करना चाहिये। शुरू-शुरूमें मन न लगे तो पंद्रह-बीस मिनिटसे आरम्भ कर धीरे-धीरे ध्यानका समय बढ़ाता रहे। बहुत शीघ्र प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकोंके लिये तीन घंटेका अभ्यास आवश्यक है। ध्यानमें नाम-जपसे बड़ी सहायता मिलती है। ईश्वरके सभी नाम समान हैं, परंतु निराकारकी उपासनामें ॐकार प्रधान है। योगदर्शनमें भी महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(१।२७-२८)

उसका वाचक प्रणव (ॐ) है, उस प्रणवका जप करना और उसके अर्थ (परमात्मा) का ध्यान करना चाहिये।

इन सूत्रोंका मूल आधार—'**ईश्वरप्रणिधानाद्वा।**' (योग० १।२३) है। इसमें भगवान्‌के शरण होनेकी और उन दोनोंमेंसे पहलेमें भगवान्‌का नाम बतलाकर, दूसरेमें नाम-जप और स्वरूपका ध्यान करनेकी बात कही गयी है।

महर्षि पतञ्जलिके परमेश्वरके स्वरूपसम्बन्धी अन्य विचारोंके सम्बन्धमें मुझे यहाँपर कुछ नहीं कहना है। यहाँपर मेरा अभिप्राय केवल यही है कि ध्यानका लक्ष्य ठीक करनेके लिये पतञ्जलिजीके कथनानुसार स्वरूपका ध्यान करते हुए नामका जप करना चाहिये। ॐकी जगह कोई 'आनन्दमय' या 'विज्ञानानन्दघन' ब्रह्मका जप करे, तो भी कोई आपत्ति नहीं है। भेद नामोंमें है, फलमें कोई अन्तर नहीं है।

जप सबसे उत्तम वह होता है, जो मनसे होता है, जिसमें जीभ हिलाने और ओष्ठसे उच्चारण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसे जपमें ध्यान

और जप दोनों साथ ही हो सकते हैं। अन्तःकरणके चार पदार्थोंमेंसे मन और बुद्धि दो प्रधान हैं, बुद्धिसे पहले परमात्माका स्वरूप निश्चय करके उसमें बुद्धि स्थिर कर ले, फिर मनसे उसी सर्वत्र परिपूर्ण आनन्दमयकी पुनः-पुनः आवृत्ति करता रहे। यह जप भी है और ध्यान भी। वास्तवमें आनन्दमयके जप और ध्यानमें कोई खास अन्तर नहीं है। दोनों काम एक साथ किये जा सकते हैं। दूसरी युक्ति श्वासके द्वारा जप करनेकी है। श्वासोंके आते और जाते समय कण्ठसे नामका जप करे, जीभ और ओष्ठको बंदकर श्वासके साथ नामकी आवृत्ति करता रहे, यही प्राणजप है, इसको प्राणद्वारा उपासना कहते हैं। यह जप भी उच्च श्रेणीका है। यह न हो सके तो मनमें ध्यान करे और जीभसे उच्चारण करे; परन्तु मेरी समझसे इनमें साधकके लिये अधिक सुगम और लाभप्रद श्वासके द्वारा किया जानेवाला जप है। यह तो जपकी बात हुई, असलमें जप तो निराकार और साकार दोनों प्रकारके ध्यानमें ही होना चाहिये। अब निराकारके ध्यानके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है—

एकान्त स्थानमें स्थिर आसनसे बैठकर एकाग्रचित्तसे इस प्रकार अभ्यास करे। जो कोई भी वस्तु इन्द्रिय और मनसे प्रतीत हो उसीको कल्पित समझकर उसका त्याग करता रहे। जो कुछ प्रतीत होता है, सो है नहीं। स्थूल शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं हैं, इस प्रकार सबका अभाव करते-करते, अभाव करनेवाले पुरुषकी वह वृत्ति—(जिसे ज्ञान, विवेक और प्रत्यय भी कहते हैं, यह सब शुद्ध बुद्धिके कार्य हैं, यहाँपर बुद्धि ही इनका अधिकरण है, जिसके द्वारा परमात्माके स्वरूपका मनन होता है और प्रतीत होनेवाली प्रत्येक वस्तुमें यह नहीं है, यह नहीं है, ऐसा अभाव हो जाता है) इसीको वेदोंमें 'नेति-नेति'—ऐसा भी नहीं, ऐसा भी नहीं— कहा है। अर्थात् दृश्यको अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाती है। उस वृत्तिका त्याग करना नहीं पड़ता, स्वयमेव हो जाता है। त्याग करनेमें तो त्याग करनेवाला, त्याज्य वस्तु और त्याग, यह त्रिपुटी आ जाती है। इसलिये त्याग करना नहीं बनता, त्याग हो जाता है। जैसे, ईन्धनके अभावमें अग्नि स्वयमेव

शान्त हो जाती है, इसी प्रकार विषयोंके सर्वथा अभावसे वृत्तियाँ भी सर्वथा शान्त हो जाती हैं। शेषमें जो बच रहता है, वही परमात्माका स्वरूप है। इसीको निर्बीज समाधि कहते हैं।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

(योग० १। ५१)

यहाँपर यह शङ्का होती है कि त्यागके बाद त्यागी बचता है। वह अल्प है, परमात्मा महान् है, इसलिये बच रहनेवालेको ही परमात्माका स्वरूप कैसे कहा जाता है? बात ठीक है परन्तु वह अल्प वहींतक है, जबतक वह एक सीमाबद्ध स्थानमें अपनेको मानकर बाकीकी सब जगह दूसरोंसे भरी हुई समझता है। दूसरी सब वस्तुओंका अभाव हो जानेपर, शेषमें बचा हुआ केवल एक तत्त्व ही 'परमात्मतत्त्व' है। संसारको जड़से उखाड़कर फेंक देनेपर परमात्मा आप ही रह जाते हैं। उपाधियोंका नाश होते ही सारा भेद मिटकर अपार एकरूप परमात्माका स्वरूप रह जाता है, वही सब जगह परिपूर्ण और सभी देश-कालमें व्याप्त है। वास्तवमें देश-काल भी उसमें कल्पित ही हैं। वह तो एक ही पदार्थ है, जो अपने ही आपमें स्थित है, जो अनिर्वचनीय है और अचिन्त्य है। जब चिन्तनका सर्वथा त्याग हो जाता है, तभी उस अचिन्त्य ब्रह्मका खजाना निकल पड़ता है, साधक उसमें जाकर मिल जाता है। जबतक अज्ञानकी आड़से दूसरे पदार्थ भरे हुए थे, तबतक वह खजाना अदृश्य था। अज्ञान मिटनेपर एक ही वस्तु रह जाती है, तब उसमें मिल जाना यानी सम्पूर्ण वृत्तियोंका शान्त होकर एक ही वस्तुका रह जाना निश्चित है।

महाकाशसे घटाकाश तभीतक अलग है, जबतक घड़ा फूट नहीं जाता। घड़ेका फूटना ही अज्ञानका नाश होना है, परन्तु यह दृष्टान्त भी पूरा नहीं घटता। कारण, घड़ा फूटनेपर तो उसके टूटे हुए टुकड़े आकाशका कुछ अंश रोक भी लेते हैं परन्तु यहाँ अज्ञानरूपी घड़ेके नाश हो जानेपर ज्ञानका जरा-सा अंश रोकनेके लिये भी कोई पदार्थ नहीं बच रहता। भूल मिटते ही जगत्का सर्वथा अभाव हो जाता है। फिर जो बच रहता है, वही

ब्रह्म है। उदाहरणार्थ जैसे, घटाकाश जीव है, महाकाश परमात्मा है। उपाधिरूपी घट नष्ट हो जानेपर दोनों एकरूप हो जाते हैं। एकरूप तो पहले भी थे, परन्तु उपाधि-भेदसे भेद प्रतीत होता था।

वास्तवमें आकाशका दृष्टान्त परमात्माके लिये सर्वदेशी नहीं है। आकाश जड है, परमात्मा जड नहीं। आकाश दृश्य है, परमात्मा दृश्य नहीं है। आकाश विकारी है, परमात्मा विकारशून्य है। आकाश अनित्य है, महाप्रलयमें इसका नाश होता है, परमात्मा नित्य है। आकाश शून्य है, उसमें सब कुछ समाता है, परमात्मा घन है, उसमें दूसरेका समाना सम्भव नहीं। आकाशसे परमात्मा अत्यन्त विलक्षण है। ब्रह्मके एक अंशमें माया है, जिसे अव्याकृत या प्रकृति कहते हैं, उसके एक अंशमें महत्तत्त्व (समष्टि-बुद्धि) है, जिस बुद्धिसे सबकी बुद्धि होती है, उस बुद्धिके एक अंशमें अहंकार है, उस अहंकारके एक अंशमें आकाश, आकाशमें वायु, वायुमें अग्नि, अग्निमें जल और जलमें पृथ्वी। इस प्रकार प्रक्रियासे यह सिद्ध होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड मायाके एक अंशमें है और वह माया परमात्माके एक अंशमें है, इस न्यायसे आकाश तो परमात्माकी तुलनामें अत्यन्त ही अल्प है, परन्तु इस अल्पताका पता परमात्माके जाननेपर ही लगता है। जैसे, एक आदमी स्वप्न देखता है। स्वप्नमें उसे दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात आदि समस्त पदार्थ भासते हैं, बड़ा विस्तार दीख पड़ता है, परन्तु आँख खुलते ही उस सारी सृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाता है, फिर पता लगता है कि वह सृष्टि तो अपने ही संकल्पसे अपने ही अन्तर्गत थी, जो मेरे अंदर थी, वह अवश्य ही मुझसे छोटी वस्तु थी, मैं तो उससे बड़ा हूँ। वास्तवमें तो थी ही नहीं, केवल कल्पना ही थी, परन्तु यदि थी भी तो अत्यन्त अल्प थी, मेरे एक अंशमें थी, मेरा ही संकल्प था। अतएव मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं थी। यह ज्ञान आँख खुलनेपर—जागनेपर होता है, इसी प्रकार परमात्माके सच्चे स्वरूपमें जागनेपर यह सृष्टि भी नहीं रहती। यदि कहीं रहती है ऐसा मानें, तो वह महापुरुषोंके कथनानुसार परमात्माके एक

जरा-से अंशमें और उसीके संकल्पमात्रमें रहती है।

इसलिये आकाशका दृष्टान्त परमात्मामें पूर्णरूपसे नहीं घटता। इतने ही अंशमें घटता है कि मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाश निराकार है, ब्रह्म वास्तवमें वैसे ही निराकार है। मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाशकी अनन्तता भासती है, वैसे ही ब्रह्म सत्य अनन्त है। मनुष्यकी दृष्टिसे समझानेके लिये आकाशका उदाहरण है। इन सब वस्तुओंका अभाव होनेपर प्राप्त होनेवाली चीज कैसी है, उसका स्वरूप कोई नहीं कह सकता, वह तो अत्यन्त विलक्षण है। सूक्ष्मभावके तत्त्वज्ञ सूक्ष्मदर्शी महात्मागण उसे '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' कहते हैं। वह अपार है, असीम है, चेतन है, ज्ञाता है, घन है, आनन्दमय है, सुखरूप है, सत् है, नित्य है। इस प्रकारके विशेषणोंसे वे विलक्षण वस्तुका निर्देश करते हैं। उसकी प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी पतन नहीं होता। दुःख, क्लेश, दुर्गुण, शोक, अल्पता, विक्षेप, अज्ञान और पाप आदि सब विकारोंकी सदाके लिये आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। एक सत्य, ज्ञान, बोध आनन्दरूप ब्रह्मके बाहुल्यकी जागृति रहती है। यह जागृति भी केवल समझानेके लिये ही है। वास्तवमें तो कुछ कहा नहीं जा सकता।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(गीता १३।१२)

'वह आदिरहित परब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है।'

यदि ज्ञानका भोक्ता कहें तो कोई भोग नहीं है। यदि ज्ञानरूप या सुखरूप कहें तो कोई भोक्ता नहीं है। भोक्ता, भोग, भोग्य सब कुछ एक ही रह जाता है, वह एक ऐसी चीज है जिसमें त्रिपुटी रहती ही नहीं। एक तो यह निराकारके ध्यानकी विधि है।

ध्यानकी दूसरी विधि

एकान्त स्थानमें बैठकर आँखें मूँदकर ऐसी भावना करे कि मानो सत्, चित्, आनन्दघनरूपी समुद्रकी अत्यन्त बाढ़ आ गयी है और मैं उसमें गहरा डूबा

हुआ हूँ। अनन्त विज्ञानानन्दघन समुद्रमें निमग्न हूँ। समस्त संसार परमात्माके सङ्कल्पमें था, उसने सङ्कल्प त्याग दिया, इससे मेरे सिवा सारे संसारका अभाव होकर सर्वत्र एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह गये। मैं परमात्माका ध्यान करता हूँ तो परमात्माके सङ्कल्पमें मैं हूँ, मेरे सिवा और सबका अभाव हो गया। जब परमात्मा मेरा सङ्कल्प छोड़ देंगे, तब मैं भी नहीं रहूँगा, केवल परमात्मा ही रह जायँगे। यदि परमात्मा मेरा सङ्कल्प त्याग न कर मुझे स्मरण रखें तो भी बड़े आनन्दकी बात है। इस प्रकार भेदसहित निराकारकी उपासना करे।

इसमें साधनकालमें भेद है और सिद्धकालमें अभेद है, परमात्माने सङ्कल्प छोड़ दिया, बस एक परमात्मा ही रह गये। एक युक्ति यह है। इसके अतिरिक्त निराकारके ध्यानकी और भी कई युक्तियाँ हैं, उनमेंसे दो युक्तियाँ 'सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय' शीर्षक लेखमें बतलायी गयी हैं, वहाँ देखनी चाहिये। कहनेका अभिप्राय यह है कि निराकारका ध्यान दो प्रकारसे होता है, भेदसे और अभेदसे। दोनोंका फल एक अभेद परमात्माकी प्राप्ति ही है।

अब साकारके ध्यानके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है। साकारकी उपासनाके फल दोनों प्रकारके होते हैं। साधक यदि सद्योमुक्ति चाहता है, शुद्ध ब्रह्ममें एकरूपसे मिलना चाहता है तो उसमें मिल जाता है, उसकी सद्योमुक्ति हो जाती है; परन्तु यदि वह ऐसी इच्छा करता है कि मैं दास, सेवक या सखा बनकर भगवान्के समीप निवास कर प्रेमानन्दका भोग करूँ या अलग रहकर संसारमें भगवत्प्रेम-प्रचाररूप परम सेवा करूँ तो उसको सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य आदि मुक्तियोंमेंसे यथारुचि कोई-सी मुक्ति मिल जाती है और वह मृत्युके बाद भगवान्के परम नित्यधाममें चला जाता है। महाप्रलयतक नित्यधाममें रहकर अन्तमें परमात्मामें मिल जाता है या संसारका उद्धार करनेके लिये कारक पुरुष बनकर जन्म भी ले सकता है, परन्तु जन्म लेनेपर भी वह किसी फँसावटमें नहीं फँसता। माया उसे किञ्चित् भी दुःख-कष्ट नहीं पहुँचा सकती, वह नित्य मुक्त ही रहता है। जिस नित्यधाममें ऐसा साधक जाता है वह परमधाम सर्वोपरि है, सबसे श्रेष्ठ है।

उससे परे एक सच्चिदानन्दघन निराकार शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह परमधाम सदासे है, सब लोकोंका नाश होनेपर भी वह बना रहता है। उसका स्वरूप कैसा है ? इस बातको वही जानता है जो वहाँ पहुँच जाता है। वहाँ जानेपर सारी भूलें मिट जाती हैं। उसके सम्बन्धकी सम्पूर्ण भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ वहाँ पहुँचनेपर एक यथार्थ सत्यस्वरूपमें परिणत हो जाती हैं। महात्मागण कहते हैं कि वहाँ पहुँचे हुए भक्तोंको प्रायः वह सब शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जो भगवान्‌में हैं, परन्तु वे भक्त भगवान्‌के सृष्टिकार्यके विरुद्ध उनका उपयोग कभी नहीं करते। उस महामहिम प्रभुके दास, सखा या सेवक बनकर जो उस परमधाममें सदा समीप निवास करते हैं वे सर्वदा उनकी आज्ञामें ही चलते हैं। गीताके ८वें अध्यायका २४ वाँ श्लोक इस परमधाममें जानेवाले साधकके लिये है। बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद्‌में भी इस अर्चिमार्गका विस्तृत वर्णन है। इस नित्यधामको ही सम्भवतः भगवान् श्रीकृष्णके उपासक गोलोक, भगवान् श्रीरामके उपासक साकेतलोक कहते हैं। वेदमें इसीको सत्यलोक और ब्रह्मलोक कहा है। (वह ब्रह्मलोक नहीं जिसमें ब्रह्माजी निवास करते हैं, जिसका वर्णन गीता अध्याय ८ के १६ वें श्लोकके पूर्वार्धमें है।) भगवान् साकाररूपसे अपने इसी नित्यधाममें विराजते हैं। साकाररूप मानकर नित्य परमधाम न मानना बड़ी भूलकी बात है।

भक्तोंके लिये भगवान् साकार कैसे बनते हैं ?

परमात्मा सत्-चित्-आनन्दघन नित्य अपाररूपसे सभी जगह परिपूर्ण हैं। उदाहरणके लिये अग्निका नाम लिया जा सकता है। अग्नि निराकाररूपसे सभी स्थानोंमें व्याप्त है, प्रकट करनेकी सामग्री एकत्र करके साधन करनेसे ही वह प्रकट हो जाती है। प्रकट होनेपर उसका व्यक्तरूप उतना ही लंबा-चौड़ा दीख पड़ता है, जितना लकड़ी आदि पदार्थका होता है। इसी प्रकार गुप्तरूपसे सर्वत्र व्यापक अदृश्य सूक्ष्म निराकार परमात्मा भी भक्तके इच्छानुसार साकाररूपमें प्रकट होते हैं। वास्तवमें अग्निकी व्यापकताका

****

उदाहरण भी एकदेशीय है; क्योंकि जहाँ केवल आकाश या वायुतत्त्व है, वहाँ अग्नि नहीं है परन्तु परमात्मा तो सब जगह परिपूर्ण है; परमात्माकी व्यापकता सबसे श्रेष्ठ और विलक्षण है। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ परमात्मा न हो और संसारमें ऐसी भी कोई जगह नहीं कि जहाँ परमात्माकी माया न हो। जहाँ देश-काल हैं वहीं, माया है। मायारूप सामग्रीको लेकर परमात्मा चाहे जहाँ प्रकट हो सकते हैं। जहाँ जल है और शीतलता है, वहीं बर्फ जम सकती है। जहाँ मिट्टी और कुम्हार है, वहीं घड़ा बन सकता है। जल और मिट्टी तो शायद सब जगह न भी मिले परन्तु परमात्मा और उनकी माया तो संसारमें सभी जगह मिलती है, ऐसी स्थितिमें उनके प्रकट होनेमें कठिनता ही क्या है ? भक्तका प्रेम चाहिये।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥

निराकारकी व्यापकताका विचार तो सभी कर सकते हैं; परन्तु साकाररूपसे तो भगवान् केवल भक्तको ही दीखते हैं। वे सर्व-शक्तिमान् हैं, सब कुछ कर सकते हैं। एकको, अनेकको या सबको एक साथ दर्शन दे सकते हैं, उनकी इच्छा है। अवश्य ही वह इच्छा लड़कोंके खेलकी तरह दोषयुक्त नहीं होती है। उनकी इच्छा विशुद्ध होती है। भक्तकी इच्छा भी भगवान्के भावानुसार ही होती है। भगवान्ने कहा है कि मैं भक्तके हृदयमें रहता हूँ। बात ठीक है। जैसे हम सबके शरीरमें निराकाररूपसे अग्नि स्थित है, उसी प्रकार भगवान् भी निराकार सत्-चित्-आनन्दघनरूपसे सभीके हृदयमें स्थित हैं; परन्तु भक्तोंका हृदय शुद्ध होनेसे उसमें वे प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं, यही भक्त-हृदयकी विशेषता है। सूर्यका प्रतिबिम्ब काठ, पत्थर और दर्पणपर समान ही पड़ता है; परन्तु स्वच्छ दर्पणमें तो वह दीखता है, काठ, पत्थरमें नहीं दीखता। इसी प्रकार भगवान् सबके हृदयमें रहनेपर भी अभक्तोंके काष्ठ-सदृश अशुद्ध हृदयमें दिखलायी नहीं देते और भक्तोंके स्वच्छ दर्पण-सदृश शुद्ध हृदयमें प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। भक्त ध्यानमें उन्हें जैसा समझता है, वैसे ही वे उसके हृदयमें बसते हैं।

महात्मा लोग कहा करते हैं कि जहाँ कीर्तन होता है वहाँ भगवान् स्वयं साकाररूपसे उपस्थित रहते हैं, कीर्तन करते हुए भक्तको साकाररूपमें दीखते भी हैं। यह नहीं समझना चाहिये कि यह केवल भक्तकी भावना ही है। वास्तवमें उसे सत्यरूपसे ही दीखते हैं। केवल प्रतीत होनेवाला तो मायाका कार्य है। भगवान् तो मायाशक्तिके प्रभु हैं। महापुरुषोंकी यह मान्यता सत्य है कि—

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(आदिपु० १९। ३५)

यह हो सकता है कि भगवान् साकाररूपसे कीर्तनमें रहकर भी किसीको न दीखें, परन्तु वे कीर्तनमें स्वयं रहते हैं, इस बातपर विश्वास करना ही श्रेयस्कर है।

जब भगवान् चाहे जहाँ, जिस रूपमें भक्तके इच्छानुसार प्रकट हो सकते हैं, तब भक्त अपने भगवान्का किसी भी रूपमें ध्यान करे, फल एक ही होता है। मोरमुकुटधारी श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करे या धनुषबाणधारी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका करे। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् श्रीविष्णुका ध्यान करे या विश्वरूप विराट् परमात्माका, बात एक ही है। जिस रूपका ध्यान करे उसीको पूर्ण मानकर करना चाहिये। इसी प्रकार जप भी अपनी रुचिके अनुसार ॐ, राम, कृष्ण, हरि, नारायण, शिव आदि किसी भी भगवन्नामका करे, सबका फल एक ही है। सगुणके ध्यानकी कुछ विधि 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' और 'सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय' * शीर्षक लेखोंमें हैं। वहाँ देख लेनी चाहिये।

अब यहाँ भगवान्के विश्वरूपके सम्बन्धमें कुछ कहना है। भगवान्ने अर्जुनको जो रूप दिखलाया था वह भी विश्वरूप था और वेदवर्णित '**भूर्भुवः स्वः**' रूप यह ब्रह्माण्ड भी भगवान्का विश्वरूप है। दोनों एक ही

* 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' और 'सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय' नामक दोनों लेख पुस्तकाकार गीताप्रेससे मिल सकते हैं।

बात है। सारा विश्व ही भगवान्का स्वरूप है। स्थावर-जङ्गम सबमें साक्षात् परमात्मा विराजमान हैं। समस्त विश्वको परमात्माका स्वरूप मानकर उसका सत्कार और सेवा करना ही विश्वरूप परमात्माका सत्कार और सेवा करना है। विश्वमें जो दोष या विकार हैं, वह सब परमात्माके स्वरूपमें नहीं हैं। ये सब बाजीगरकी लीलाके समान क्रीड़ामात्र हैं। नाम-रूप सब खेल हैं। भगवान् तो सदा अपने ही स्वरूपमें स्थित हैं। निराकाररूपसे तो परमात्मा बर्फमें जलकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण हैं, बर्फमें जलसे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं है। जलकी जगह बर्फका पिण्ड दीखता है, वास्तवमें कुछ है नहीं, इसी प्रकार उस शुद्ध ब्रह्ममें यह संसार दीखता है, वस्तुतः है नहीं।

परमात्मा सगुणरूपसे अग्निकी तरह अव्यक्त होकर व्यापक है, सो चाहे जब साकाररूपमें प्रकट हो सकता है, यही बात ऊपर कही गयी है, इसी व्यापक परमात्माको विष्णु कहते हैं, 'विष्णु' शब्दका अर्थ ही व्यापक होता है।

भगवान् गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त हैं और केवल सद्गुणसम्पन्न हैं

भगवान्में कोई भी गुण नहीं, वे गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुण उनमें हैं और उनमें केवल सद्गुण हैं, दुर्गुण हैं ही नहीं। ये तीनों ही बातें भगवान्के लिये कही जा सकती हैं। इस विषयको कुछ समझना चाहिये।

शुद्ध ब्रह्म निराकार चेतन विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी परमात्माका वास्तविक रूप सम्पूर्ण गुणोंसे सर्वथा अतीत है। जगत्के सारे गुण-अवगुण सत्, रज और तमसे बनते हैं। सत्, रज, तम तीनों गुण मायाके अन्तर्गत हैं, इसीसे उसका नाम त्रिगुणमयी माया है। इनमें सत्त्व उत्तम है, रज मध्यम है और तम अधम है। परमात्मा इस मायासे अत्यन्त विलक्षण, सर्वथा अतीत और गुणरहित है, इसीसे उसका नाम शुद्ध है। अतएव वह गुणातीत है।

माया वास्तवमें है तो नहीं, यदि कहीं मानी जाय तो वह भी कल्पनामात्र है। यह मायाकी कल्पना परमात्माके एक अंशमें है। गुण-

अवगुण सब मायामें है। इस न्यायसे सत्य, दया, त्याग, विचार और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि गुण और अवगुणोंसे युक्त यह सम्पूर्ण संसार उस परमात्मामें ही अध्यारोपित है। इसीसे सभी सद्गुण और दुर्गुण उसीमें आरोपित माने जा सकते हैं। इस स्थितिमें वह बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त कहा जा सकता है।

यह ब्रह्माण्ड जिसके अन्तर्गत है, वह मायाविशिष्ट ब्रह्म सृष्टिकर्ता ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, वह मायाको अपने अधीन करके प्रादुर्भूत होता है, समय-समयपर अवतार धारण करता है, इसीसे उसे मायाविशिष्ट कहते हैं। गीतामें कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

(४।६)

जैसे अवतार होते हैं वैसे ही सृष्टिके आदिमें भी मायाको अपने अधीन करके ही भगवान् प्रकट होते हैं। इन्हींका नाम विष्णु है, ये आदिपुरुष विष्णु सर्वसत्त्वगुणसम्पन्न हैं। सत्त्वगुणकी मूर्ति हैं। सात्त्विक तेज, प्रभाव, सामर्थ्य, विभूति आदिसे विभूषित हैं। दैवी सम्पदाके गुण ही सत्त्वगुण हैं। शुद्ध सत्त्व ही उनका स्वरूप है। दुर्गुण तो रज और तममें रहते हैं, प्रेम सादृश्यता और समानतामें होता है, इसीसे जिस भक्तमें दैवी सम्पत्तिके गुण होते हैं, वही भगवान्‌के दर्शनका उपयुक्त पात्र समझा जाता है। मायाविशिष्ट सगुण भगवान् मायाको साथ लेकर समय-समयपर अवतार धारण किया करते हैं। वे सर्वगुणसम्पन्न हैं। शुद्ध, स्वतन्त्र, प्रभु और सर्वशक्तिमान् हैं। ऐसी कोई भी बात नहीं जो वे नहीं कर सकें। इसीलिये यद्यपि उन शुद्ध सत्त्वगुणरूप सगुण साकार परमात्मामें रज और तम वास्तवमें नहीं रहते तथापि वह रज-तमका कार्य कर सकते हैं। भगवान् विष्णु दुष्टदलनरूप हिंसात्मक कार्य करते हुए दीख पड़ते हैं। मानव-दृष्टिसे उनमें हिंसा या तमकी प्रतीति होती है; परन्तु वस्तुतः उनमें यह बात नहीं है। न्यायकारी

होनेके कारण वे यथावश्यक कार्य करते हैं। राजा जनक मुक्त पुरुष थे, परम सात्त्विक थे, परन्तु राजा होनेके कारण न्याय करना उनका काम था। चोरोंको वे दण्ड भी दिया करते थे। इसमें कोई दोषकी बात भी नहीं। माता अपने प्यारे बच्चेको शिक्षा देनेके लिये धमकाती और किसी समय आवश्यक समझकर हितभरे हृदयसे एक-आध थप्पड़ भी जमा देती है, परन्तु ऐसा करनेमें उसकी दया ही भरी रहती है। इसी प्रकार दयानिधि न्यायकारी भगवान्‌का दण्डविधान भी दयासे युक्त ही होता है। धर्मानुकूल काम भी भगवान् है। भगवान्‌ने कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

(गीता ७। ११)

धर्मयुक्त काम मैं हूँ, परन्तु पापयुक्त नहीं। भगवान् सत् हैं, सात्त्विक हैं, शुद्ध सत्त्व हैं। वे मायाकी शुद्ध सत्त्वविद्यासे सम्पन्न हैं। जीव अविद्यासम्पन्न है। विद्यामें ज्ञान है, प्रकाश है, वहाँ अवगुण या अन्धकार ठहर ही कैसे सकता है? अवगुण तो अविद्यामें रहते हैं। इस न्यायसे भगवान् केवल सद्‌गुणसम्पन्न हैं।

ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि परमात्मा गुणातीत, गुणागुणयुक्त और केवल सत्त्वगुणसम्पन्न कहे जा सकते हैं।

भगवान्‌का स्वरूप और निराकार-साकारकी एकता

शरीरके तीन भेद हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। जो दीख पड़ता है सो स्थूल है, जो मरनेपर साथ जाता है वह सूक्ष्म है और महाप्रलयके समय जो मायामें लय हो जाता है वह कारण है। शरीरके ये तीनों भेद नित्य भी देखे जाते हैं। जाग्रत्‌में स्थूल शरीर काम करता है, स्वप्नमें सूक्ष्म और सुषुप्तिमें कारण रहता है। इसी प्रकार परमात्माके भी तीन स्वरूप कहे जा सकते हैं। महाप्रलयमें रहनेवाला परमात्माका कारण स्वरूप है, सारा विश्व उसीमें लय होकर रहता है, उस समय केवल परमेश्वर और उनकी प्रकृति

रहते हैं, सारे जीव प्रकृतिके अंदर लय हो जाते हैं। जीवमें भी प्रकृति-पुरुष दोनोंका अंश है। चेतनता परमात्माका अंश है और अज्ञान प्रकृतिका। मायाकी उपाधिके कारण महाप्रलयमें भी जीव मुक्त नहीं होते। उसके बाद सृष्टिके आदिमें फिर सोकर जाग उठनेके समान अपने-अपने कर्मफलानुरूप नाना रूपोंमें जाग उठते हैं। इस प्रकार महाप्रलयमें परमात्माका रूप कारण कहा जा सकता है।

परमात्माका सूक्ष्मरूप सब जगह रहता है, इसीका नाम आदिपुरुष है, सृष्टिका आदिकारण यही है, इसीका नाम पुरुषोत्तम, सृष्टिकर्ता ईश्वर है।

परमात्मा स्थूलरूपसे शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् विष्णु हैं, जो सदा नित्यधाममें विराजते हैं।

भक्तकी भावनाके अनुसार ही भगवान् बन जाते हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड परमात्माका शरीर है, इसीके अंदर अपना शरीर है, इस न्यायसे हम सब भी परमात्माके पेटमें हैं।

एक तत्त्वकी बात और समझनी चाहिये। जब आकाश निर्मल होता है, सूर्य उगे हुए होते हैं, उस समय सूर्यके और अपने बीचमें आकाशमें कोई चीज नहीं दीखती, परंतु वहाँ जल रहता है। यह मानना पड़ेगा कि सूर्य और अपने बीचमें जल भरा हुआ है, परन्तु वह दीखता नहीं; क्योंकि वह सूक्ष्म और परमाणुरूपमें रहता है, जब उसमें घनता आती है, तब क्रमशः उसका रूप स्थूल होकर व्यक्त होने लगता है। सूर्यदेवके तापसे भाप बनती है, जब भाप घन होती है, तब उसके बादल बन जाते हैं, फिर उनमें जलका संचार होता है। पानीके बादल पहाड़परसे चले जाते हों, उस समय कोई वहाँ चला जाय तो वर्षा न होनेपर भी उसके कपड़े भीग जाते हैं। बादलमें जलकी घनता होनेपर बूँदें बन जाती हैं और घनता होती है तो वही ओले बनकर बरसने लगता है। फिर वह ओले या बर्फ गर्मी पहुँचते ही गलकर पानी हो जाते हैं और अधिक गर्मी होनेपर उसीकी फिर भाप बन जाती है, भाप आकाशमें उड़कर अदृश्य हो जाती है और अन्तमें जल फिर उसी

****

परमाणु अव्यक्तरूपमें परिणत हो जाता है। इस परमाणुरूपमें स्थित जलको—अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुको सहस्रगुण स्थूल दिखलानेवाले यन्त्रसे भी कोई नहीं देख सकता। पर जल रहता अवश्य है, न रहता तो आता कहाँसे ?

इस दृष्टान्तके अनुसार परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥

(८। ३-४)

अर्जुनके सात प्रश्नोंमें छः प्रश्न ये थे कि ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत क्या है, अधिदैव क्या है और अधियज्ञ क्या है ? भगवान्ने उपर्युक्त श्लोकोंमें इनका यह उत्तर दिया कि अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म है, शास्त्रोक्त त्याग कर्म है, नाश होनेवाले पदार्थ अधिभूत हैं, समष्टिप्राणरूपसे हिरण्यगर्भ द्वितीय पुरुष अधिदैव है और निराकार व्यापक विष्णु अधियज्ञ मैं हूँ।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे इसका दार्ष्टान्त इस प्रकार समझा जा सकता है।

(१) परमाणुरूप जलके स्थानमें—

शुद्ध सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्मा, जिसमें यह संसार न तो कभी हुआ और न है; जो केवल गुणातीत, परम, अक्षर है।

(२) भापरूप जल—

वही शुद्ध ब्रह्म अधियज्ञ निराकाररूपसे व्याप्त रहनेवाला मायाविशिष्ट ईश्वर।

(३) बादल—

अधिदैव, सबका प्राणाधार हिरण्यगर्भ ब्रह्मा। सत्रह तत्त्वोंके समूहको

सूक्ष्म कहते हैं, इनमें प्राण प्रधान है। सबके प्राण मिलकर समष्टिप्राण हो जाते हैं, यह समष्टिप्राण प्रलयमें भी रहता है, महाप्रलयमें नहीं। यह सत्रह तत्त्वोंका समूह हिरण्यगर्भ ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर है।

(४) जलकी लाखों-करोड़ों बूँदें—

जगत्के सब जीव।

(५) वर्षा—

जीवोंकी क्रिया।

(६) जलके ओले या बर्फ—

पञ्चभूतोंकी अत्यन्त स्थूल सृष्टि।

इस सृष्टिका स्वरूप इतना स्थूल और विनाशशील है कि जरा-सा ताप लगते ही क्षणभरमें ओलोंके गलकर पानी हो जानेके सदृश तुरंत गल जाता है। वहाँ ताप ज्ञानाग्निरूप वह प्रकाश है, जिसके पैदा होते ही स्थूल सृष्टिरूपी ओले तुरंत गल जाते हैं।

अज्ञान ही सरदी है। जितना अज्ञान होता है उतनी स्थूलता होती है और जितना ज्ञान होता है उतनी ही सूक्ष्मता होती है। जो पदार्थ जितना भारी होता है, वह उतना ही नीचे गिरता है, जितना हलका होता है उतना ही ऊपरको उठता है। अज्ञान ही बोझा है, जलके अत्यन्त स्थूल होनेपर जब वह बर्फ बन जाता है तभी उसे नीचे गिरना पड़ता है, इसी प्रकार अज्ञानके बोझसे स्थूल हो जानेपर जीवको गिरना पड़ता है।

ज्ञानरूपी तापके प्राप्त होते ही संसारका बोझ उतर जाता है और जैसे तापसे गलकर जल बननेपर और भी ताप प्राप्त होनेसे वह जल धूआँ या भाप होकर ऊपर उड़ जाता है, वैसे ही जीव भी ऊपर उठ जाता है।

जीवात्मा परमात्माका अंश है, परंतु जडता या अज्ञानसे जब यह स्थूल हो जाता है तभी इसका पतन होता है। अज्ञान ही अधःपतनका कारण है और ज्ञान ही उत्थानका कारण है। जीवात्मा एक बार शेष सीमातक उठनेपर फिर नहीं गिरता। उसके ज्ञानमें सब कुछ परमेश्वर ही हो जाता है, वास्तवमें तत्त्वसे है

****

तो एक ही। परमाणु, भाप, बादल, बूँद, ओले सब जल ही तो हैं।

इस न्यायसे सभी वस्तुएँ एक ही परमात्मतत्त्व हैं, इसलिये भगवान् चाहे जैसे, चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपसे प्रकट हो जाते हैं। इस बातका ज्ञान होनेपर साधकको सब जगह ईश्वर ही दीखते हैं। जलका तत्त्व समझ लेनेपर सब जगह जल ही दीखता है, वही परमाणुमें और वही ओलोंमें। अत्यन्त सूक्ष्ममें भी वही और अत्यन्त स्थूलमें भी वही। इसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूलमें वही एक परमात्मा है। **'अणोरणीयान् महतो महीयान्।'** यही निराकार-साकारकी एकरूपता है।

अज्ञानसे अहंकार बढ़ता है, जितना अहंकार अधिक होता है उतना ही वह सांसारिक वस्तुओंको अधिक ग्रहण करता है। जितना सांसारिक बोझ अधिक होगा उतना ही वह नीचे जायगा। गुण तीन हैं, इनमें तमोगुण सबसे भारी है, इसीसे तमोगुणी पुरुष नीचे जाता है। रजोगुण समान है, इससे रजोगुणी बीचमें मनुष्यादिमें रह जाता है। सत्त्वगुण हलका है, इससे सत्त्वगुणी परमात्माकी ओर ऊपरको उठता है—

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'
'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'
'अधो गच्छन्ति तामसाः'

हलकी चीज ऊपर तैरती है, भारी डूब जाती है। आसुरी सम्पदा तमोगुणका स्वरूप है इसलिये वह नीचे ले जाती है, सत्त्वगुण हलका होनेसे ऊपरको उठाता है। दैवी सम्पदा ही सत्त्वगुण है, यही ईश्वरकी सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-ही-त्यों साधक ऊपर उठता है, यानी परमात्माके समीप पहुँचता है।

इस तरहसे स्थूल और सूक्ष्ममें उस एक ही परमात्माको व्यापक समझना चाहिये।

परमात्मा व्यापकरूपसे सबको देखते और जानते हैं।

****

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

(गीता १३ । १३)

वह ज्ञेय कैसा है ? सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर तथा मुखवाला एवं सब ओरसे कानवाला है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो, ऐसा कोई शब्द नहीं जिसे वह न सुनता हो, ऐसा कोई दृश्य नहीं जिसे वह न देखता हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह न ग्रहण करता हो और ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ वह न पहुँचता हो।

हम यहाँ प्रसाद लगाते हैं तो वह तुरंत खाता है। हम यहाँ स्तुति करते हैं तो वह सुनता है। हमारी प्रत्येक क्रियाको वह देखता है,परन्तु हम उसे नहीं देख सकते। इसपर यह प्रश्न होता है कि एक ही पुरुषकी सब जगह सब इन्द्रियाँ कैसे रहती हैं ? आँख है, वहाँ नाक कैसे हो सकती है ? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि यह बात तो ठीक है, परन्तु परमात्मा इससे विलक्षण है। वह कुछ अलौकिक शक्ति है, उसमें सब कुछ सम्भव है। मान लीजिये, एक सोनेका ढेला है, उसमें कड़े, बाजूबंद, कण्ठी आदि सभी गहने सभी जगह हैं। जहाँ इच्छा हो वहींसे सब चीजें मिल सकती हैं, इसी प्रकार वह एक ऐसी वस्तु है जिसमें सब जगह सभी वस्तुएँ व्यापक हैं, सभी उसमेंसे निकल सकती हैं, वह सब जगहकी और सबकी बातोंको एक साथ सुन सकता है और सबको एक साथ देख सकता है।

स्वप्नमें आँख, कान, नाक आदि न होनेपर भी अन्तःकरण स्वयं सब क्रियाओंको आप ही करता और आप ही देखता-सुनता है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सभी कुछ बन जाता है, इसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति भी बड़ी विलक्षण है, वह सब जगह सब कुछ करनेमें सर्वथा समर्थ है। यही तो उसका ईश्वरत्व और विराट् स्वरूप है।

यह समस्त ब्रह्माण्ड उस परमेश्वरका स्थूल शरीर है, जैसे बर्फ जलका शरीर है,परन्तु उससे अलग नहीं है। इसी प्रकार क्या संसार भी वस्तुतः ऐसा

****

ही है ? क्या शरीर भी परमात्मा है ?

इसके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि है भी और नहीं भी। मेरे इस शरीरकी कोई सेवा करता या आराम पहुँचाता है, तब मैं उसे अपनी सेवा और अपनेको आराम पहुँचता है, ऐसा मानता हूँ परन्तु वस्तुतः मैं शरीर नहीं हूँ; मैं आत्मा हूँ, पर जबतक मैं इस साढ़े तीन हाथकी देहको 'मैं' मानता हूँ, तबतक वह मैं हूँ तथा इस स्थितिमें चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, सबको उसकी सेवा करनी चाहिये, उसकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है, संसारको सुख पहुँचाना ही परमात्माको सुख पहुँचाना है और जब मैं यह शरीर नहीं हूँ, तब यह ब्रह्माण्डरूपी शरीर भी ईश्वर नहीं है। यह अपना शरीर है तभीतक वह उसका शरीर है। हम सब उसके अंश हैं तो वह अंशी है। वास्तवमें अन्तमें हम आत्मा ही ठहरते हैं, शरीर नहीं। परन्तु जबतक ऐसा नहीं है तबतक इसी चालसे चलना चाहिये। यथार्थ ज्ञान होनेपर तो एक शुद्ध ब्रह्म ही रह जायगा।

इस न्यायसे निराकार-साकार सब एक ही वस्तु है। जगत् परमेश्वरमें अध्यारोपित है। महात्मा लोग ऐसा ही कहते हैं। जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीतिमात्र है, वास्तवमें है नहीं। स्वप्नका संसार अपनेमें प्रतीत होता है, मृगतृष्णाका जल या आकाशमें तिरमिरे प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार परमात्मामें संसारकी प्रतीति होती है, इस बातको महात्मा पुरुष ही जानते हैं। जागनेपर जागनेवालेको ही स्वप्नके संसारकी असारताका यथार्थ ज्ञान होता है। जबतक यह बात जाननेमें नहीं आती तबतक उपाय करना चाहिये। उपाय यह है—

निराकार और साकार किसी भी रूपका ध्यान करनेपर जो एक ही परम वस्तु उपलब्ध होती है, उस परमेश्वरकी सब प्रकारसे शरण होकर इन्द्रिय और शरीरसे उसकी सेवा करना, मनसे उसे स्मरण करना, श्वाससे उसका नामोच्चारण करना, कानोंसे उसका गुण प्रभाव सुनना और शरीरसे उसकी इच्छानुसार चलना यही उसकी सेवा है, यही असली भक्ति है और इसीसे आत्माका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—★—

अवतार और अधिकारी महापुरुषोंका अलौकिक प्रभाव

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

(गीता ४।७)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।'

इसपर कितने ही भाई हमसे पूछा करते हैं कि 'जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् यदि अवतार लेते हैं तो इस समय तो धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि विशेषरूपसे हो रही है; फिर भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते? क्योंकि इस समय धर्म-पालन करनेवाले लोग संसारमें बहुत ही कम हैं; यदि कहीं कोई धर्म-पालन करता है तो वह आंशिकरूपसे ही करता है एवं यज्ञ, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, दुःखी प्राणियोंकी सेवा, बड़ोंका आदर-सत्कार, शौचाचार-सदाचारका पालन आदि तो बहुत ही कम देखनेमें आते हैं और जो देखनेमें आते हैं, उनमें भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कहीं-कहीं तो शौचाचार-सदाचाररूप धर्मके नामपर दम्भ ही दृष्टिगोचर होता है। यह तो धर्म-हानिकी बात हुई। इसके सिवा दूसरी ओर पापाचारकी विशेषरूपसे वृद्धि हो रही है। चोरी, झूठ, कपट, बेईमानी, घूसखोरी आदि दिन-पर-दिन बढ़ रहे हैं। चोरबाजारी करना, इनकम टैक्स और सेल्स टैक्सकी चोरी करना, झूठे बहीखाते बनाना तो मामूली-सी बात हो रही है; इन सबको तो बहुत-से लोग पाप ही नहीं समझते। अंडे और मांस खाने तथा मदिरा पीनेसे शास्त्रोंमें बड़ा भारी पाप माना गया है; किंतु इनको भी बहुत-से लोग व्यवहारमें लाने लगे हैं। कोई औषधके नामपर, कोई होटलमें जाकर और कोई भोग-कामनाकी पूर्तिके लिये इनको व्यवहारमें लाने लगे हैं और कोई-कोई उसमें पाप भी नहीं समझते। कई एक पुरुष तो परस्त्रीगमनको भी पाप नहीं मानते। उनमें कितने

ही तो छिपकर और कितने ही प्रकटरूपमें यह दुराचार करते हैं। बहुत-से लोग सट्टा-फाटका और जुआ खेलते हैं, जिनके सम्बन्धमें शास्त्रकी घोषणा है कि ये देश और राष्ट्रके लिये महान् हानिकारक हैं। मांस और चमड़ेके लिये गौओंकी हिंसा बहुत अधिक मात्रामें हो रही है; क्योंकि चमड़ा और सूखा मांस विदेशोंमें अत्यधिक परिमाणमें भेजा जाता है। मच्छर, खटमल और टिड्डी आदि क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसाको तो बहुत-से लोग हिंसा ही नहीं समझते। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् क्यों नहीं अवतार लेते ?'

इसके उत्तरमें हम यही कहते हैं कि भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते—इसे तो भगवान् ही जानें; इसका निर्णय करनेकी सामर्थ्य हममें नहीं है। फिर भी विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि जब युगधर्मकी अपेक्षा अधिक मात्रामें पाप बढ़ जाता है, तभी भगवान् अवतार लिया करते हैं। सत्ययुगमें धर्मके चार चरण रहते हैं, त्रेता युगमें तीन, द्वापरयुगमें दो और कलियुगमें एक ही चरण रह जाता है (महा० वन० अ० १४९)। जब सत्ययुगमें धर्मका ह्रास होने लगा, तब भगवान्‌ने श्रीनृसिंह आदि रूपोंमें प्रकट हो हिरण्यकशिपु आदि दुष्टोंका संहार करके धर्मकी स्थापना की। त्रेतायुगके अन्तमें जब राक्षसोंने ऋषि-मुनियोंको मारकर उनकी हड्डियोंका ढेर लगा दिया, तब भगवान्‌ने श्रीरामरूपमें प्रकट हो खर-दूषण, त्रिशिरा, कुम्भकर्ण, मेघनाद, रावण आदि राक्षसोंमेंसे, किसीका स्वयं वध करके और किसीका दूसरेके द्वारा वध करवाकर धर्मकी स्थापना की, जिसके कारण आज भी संसारमें 'रामराज्य' की महिमा गायी जाती है। द्वापरयुगके अन्तमें जब दुष्टोंके द्वारा घोर अत्याचार होने लगा, तब भगवान्‌ने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हो पूतना, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर, कंस, जरासंध, कालयवन, शिशुपाल, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, जयद्रथ आदि दुष्टोंमेंसे, किन्हींका स्वयं संहार करके और किन्हींका दूसरोंके द्वारा संहार करवाकर तथा महाराज युधिष्ठिरको राज्य दिलाकर धर्मकी स्थापना की।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जब-जब युगधर्मके लक्षणोंकी

अपेक्षा पाप अधिक बढ़ जाता है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं। जब सत्ययुगमें धर्मपालनके चार चरणोंमें कमी आयी, त्रेतामें उसके तीन चरणोंमें कमी आ गयी और द्वापरयुगमें दो चरणोंमें भी कमी आ गयी, तब भगवान्‌को अवतार लेना पड़ा। अब कलियुगमें धर्मका एक ही चरण रह गया है, इसका भी जब बिलकुल ह्रास हो जायगा, तब कलियुगके अन्तमें भगवान् कल्किरूपमें अवतार लेंगे—ऐसी बात श्रीमद्भागवतमें कही गयी है (देखिये स्कन्ध १२, अध्याय २, श्लोक १८)।

घोर कलियुगका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें लिखा है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

(९७। १—४; ९८ क)

'कलियुगमें न वर्णधर्म रहता है, न चारों आश्रम रहते हैं। सभी स्त्री-पुरुष वेदके विरोधमें लगे रहते हैं। ब्राह्मण वेदोंको बेचनेवाले और राजा प्रजाका शोषण करनेवाले होते हैं। वेदकी आज्ञा कोई नहीं मानता। जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको कलियुगमें सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका

धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलता है और हँसी-दिल्लगी करना जानता है, कलियुगमें वही गुणवान् कहा जाता है। जो आचारहीन है और वेदमार्गको छोड़े हुए है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लम्बी-लम्बी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेश और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य) सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं।'

इस समय भी इस प्रकारके अधर्मका सूत्रपात तो होने लगा है, किंतु अभी धर्मका सर्वथा ह्रास नहीं हुआ है।

आजकल भी दम्भ और पाखण्ड बढ़ता जा रहा है। दम्भी लोग धर्मके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको अपने चंगुलमें फँसा लेते हैं। कई स्त्रियाँ भी अपनेको ज्ञानी, महात्मा, योगी और ईश्वरकी शक्ति घोषित करती हैं तथा उनके अनुयायी लोग भी कहते हैं कि ये साक्षात् ईश्वरकी शक्ति हैं, ईश्वर इनमें प्रकट हुए हैं, ईश्वरने नारीके रूपमें अवतार लिया है। इस प्रकारका भ्रम फैलाकर वे स्त्रियाँ अपने मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके लिये अपनेको पुजवाती हैं तथा लोगोंकी धन-सम्पत्तिका अपहरण करती हैं। कहीं-कहीं गृहस्थ और संन्यास-आश्रममें स्थित पुरुष भी दम्भ-पाखण्ड करते हैं। कोई तो अपनेको योगिराज कहते हैं, कोई ज्ञानी महात्मा नामसे अपनेको घोषित करते हैं। कोई तो अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष कहते हैं एवं कोई-कोई तो अपनेको ईश्वरका अवतार ही कहते हैं। यों कहकर वे अपने फोटो और पैरोंको पुजवाते, अपना नाम जपवाते और अपने उच्छिष्टको महाप्रसादके नामपर वितीर्ण करते हैं। इस प्रकार भोले-भाले पुरुषों और स्त्रियोंको धोखा देकर उनके सतीत्व और धन-सम्पत्तिका अपहरण करते हैं। जब यह दम्भ-पाखण्ड अतिमात्रामें बढ़ जाता है, धर्मका अत्यन्त ह्रास होकर पापोंकी वृद्धि हो जाती है, तब भगवान् अवतार लेते हैं। हमारी समझमें तो

****

अभी अवतार लेनेका समय नहीं आया है, इसलिये कोई दम्भी अपनेको अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष घोषित करे तो उसे दम्भीके भुलावेमें आकर अपने धर्म और धन-सम्पत्तिका विनाश नहीं करना चाहिये।

वास्तवमें ईश्वरके अवतारके स्वरूप, जन्म, उद्देश्य, प्रभाव, गुण, कर्म और स्वभाव दिव्य, अलौकिक और अत्यन्त विलक्षण होते हैं। उनके श्रीविग्रहकी धातु चेतन होती है। उनका शरीर दीखनेमें मनुष्य-जैसा होनेपर भी अतिशय विलक्षण होता है; वह रोग-शोक-मोह और दोषोंसे रहित, अलौकिक एवं दिव्य होता है। उनका जन्म मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यहाँ '**अजोऽपि सन्**' कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं जन्म लेता-सा प्रतीत होता हूँ, वास्तवमें जन्म नहीं लेता। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि माता देवकीके सामने भगवान् चतुर्भुज रूपमें ही प्रकट हुए थे। उनके उस अलौकिक रूपको देखकर माता देवकीने, कंस उन्हें तंग न करे इसलिये, उनसे यह प्रार्थना की—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०।३।३०)

'विश्वात्मन्! आपका यह रूप अलौकिक है। आप शङ्ख, चक्र, गदा और कमलकी शोभासे युक्त अपने इस चतुर्भुज रूपको छिपा लीजिये।'

तब भगवान्—

पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३ । ४६ का उत्तरार्ध)

'माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण शिशु-से हो गये।'

भगवान्‌ने वहाँ वसुदेव-देवकीसे कहा कि 'मैंने आपको यह रूप इसलिये दिखलाया है कि आपको मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय। यदि मैं ईश्वररूपमें प्रकट न होता तो केवल मनुष्यशरीरसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती।' एवं वहाँ भगवान्‌ने अपनेको यशोदाके यहाँ पहुँचानेके लिये वसुदेवजीको प्रेरणा भी की। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌का जन्म नहीं होता। दूसरी बात वहाँ यह भी दिखलायी गयी है कि भगवान्‌की योगशक्तिके प्रभावसे वसुदेवजीकी हथकड़ी-बेड़ियाँ खुल गयीं, दरवाजे और ताले खुल गये, पहरेदारोंको निद्रा आ गयी तथा वसुदेवजीके श्रीकृष्णको लेकर गोकुल जाते समय यमुनाका बढ़ा हुआ जल अत्यन्त कम हो गया, यमुनाने उनके लिये मार्ग दे दिया एवं यशोदाको निद्रा आ गयी। जब वसुदेवजी श्रीकृष्णको यशोदाकी शय्यापर सुलाकर उनके बदलेमें योगमायाको, जो वहाँ कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं, वहाँसे लेकर कारागारमें आ गये, तब कारागारके फाटक और ताले अपने-आप बंद हो गये (श्रीमद्भा० १० । ३)। यह सब भगवान्‌का ही प्रभाव है। ऐसी शक्ति मनुष्योंमें नहीं होती।

'अव्ययात्मा अपि सन्' कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि मेरा विनाश होता-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें विनाश नहीं होता; क्योंकि मेरा स्वरूप अक्षय है। भगवान् श्रीकृष्ण जब परम धाममें पधारे, तब उस शरीरसे ही परम धाममें गये। श्रीमद्भागवतमें आया है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(११ । ३१ । ६)

‘भगवान्‌का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है। इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्नि-देवतासम्बन्धी योगधारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें पधार गये।’

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायमें देखा जाता है कि अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने उनको अपने विश्वरूपका दर्शन कराया और पुनः प्रार्थना करनेपर उसे अदृश्य कर लिया। न तो विश्वरूपका जन्म हुआ और न विनाश हुआ, केवल आविर्भाव और तिरोभाव हुआ। अतः जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब प्रकट होते हैं और फिर अन्तर्धान हो जाते हैं।

इसी प्रकार ध्रुवजीको भगवान्‌ने चतुर्भुज रूपमें प्रकट होकर दर्शन दिया और फिर अन्तर्हित हो गये (श्रीमद्भा० ४। ९)।

ऐसे ही भगवान् श्रीरामावतारमें माता कौसल्याके सम्मुख चतुर्भुज रूपमें प्रकट हुए (देखिये श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड दोहा १९१-१९२) और फिर सशरीर परमधामको चले गये। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें कहा गया है—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥

(उत्तर० ११०। १२)

‘ब्रह्माजीके वचन सुनकर परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने कर्तव्य निश्चय करके भाइयोंके साथ शरीरसहित अपने विष्णुसम्बन्धी तेजमें प्रवेश किया।’

इसलिये यह समझना चाहिये कि भगवान्‌का स्वरूप अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता।

तथा ‘**भूतानामीश्वरोऽपि सन्**’ कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी मनुष्य-से दिखायी पड़ते हैं, किंतु वास्तवमें मनुष्य नहीं हैं। अवतार-कालमें भगवान्‌ने जगह-जगह अपनी ईश्वरता दिखलायी है। जब ब्रह्माजीको मोह हो गया कि श्रीकृष्ण मनुष्य हैं या ईश्वर, तब वे भगवान्‌की परीक्षाके लिये उनके बछड़ों और ग्वाल-बालोंको

चुराकर ले गये। उस समय उन बछड़ों और गोप-बालकोंके रूपमें स्वयं प्रकट होकर भगवान्ने अनेक रूप धारण कर लिये। फिर ब्रह्माजीका मोह दूर हो जानेपर उन सब रूपोंको अदृश्य भी कर लिया (श्रीमद्भा० १०। १३)।

जब अक्रूरजी भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको मथुरा ले जा रहे थे, उस समय वे यमुनाके ह्रदमें स्नान करने गये तो वहाँ भगवान्ने उनको जलमें भी अपना स्वरूप दिखाया और रथपर भी वैसे ही स्वरूपका दर्शन कराया एवं दुबारा डुबकी लगानेपर शेषशायी विष्णुरूपका दर्शन कराया (श्रीमद्भा० १०। ३९)।

श्रीरामावतारमें भगवान् रामने भी अनेक रूप धारण किये थे—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(मानस उत्तर० ६। ५—७)

'उस समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले। रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीने कृपापूर्ण दृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकसे रहित कर दिया। भगवान् क्षणमात्रमें सबसे मिल लिये। परंतु हे उमा! यह रहस्य किसीने नहीं जाना।'

ये सब कार्य मनुष्यकी शक्तिके बाहर हैं। इनको भगवान् ही कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

—इस कथनका यह भाव है कि भगवान् प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। यह भगवान्के जन्मकी विलक्षणता है। हमलोग संसारमें अपने पुण्य-पापोंके अनुसार प्रकृतिके पराधीन होकर जन्म लेते हैं और भगवान् स्वयं प्रकृतिको वशमें करके प्रकट होते हैं। उनके जन्ममें स्वतन्त्रता है और हमलोगोंके जन्ममें परतन्त्रता है। प्रकृति उनके वशमें रहती है और हमलोग प्रकृतिके वशमें रहते हैं। उनका शरीर दिव्य, चिन्मय, अलौकिक, पापों और दुर्गुणोंसे रहित, चिन्ता-शोक-जरा-मृत्यु तथा

****

रोगसे मुक्त होता है और हमलोगोंके शरीर जड तथा पूर्वोक्त दोषोंसे युक्त होते हैं। उनका प्राकट्य धर्म, ज्ञान, प्रेम, सदाचार, श्रद्धा, भक्तिके प्रचारके द्वारा संसारके उद्धारके उद्देश्यसे होता है; किंतु हमलोगोंका जन्म शुभाशुभ कर्मफल भोगनेके लिये होता है। अतः उनके और हमलोगोंके जन्ममें अत्यन्त अन्तर है। उनके जन्म, कर्म और उद्देश्य भी अलौकिक होते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

(गीता ४ । ९)

'हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

भगवान्‌के जन्मकी दिव्यता तो ऊपर बतलायी जा चुकी, अब कर्मकी दिव्यता भी बतलायी जाती है। भगवान्‌के कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान, स्वार्थ, कामना, आसक्ति, ममता आदिका लेश भी नहीं रहता; उनके कर्म सर्वथा शुद्ध और केवल लोगोंका कल्याण करनेके लिये ही होते हैं। इसलिये वे कर्म भी दिव्य और शुद्ध हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

(४ । १३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

(गीता ४ । १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।'

भगवान्‌के भी कर्म अनुकरणीय तथा संसारको शिक्षा देनेके लिये ही होते हैं। उनका स्वभाव बहुत ही कोमल और सरल है। वे क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, प्रेम आदि दिव्य गुणोंसे परिपूर्ण हैं। इतने उच्च कोटिके महापुरुष होकर भी वे अपने भक्तोंका अपने समान अधिकार ही मानते हैं। एक तुच्छ मनुष्य भी यदि अपने-आपको और अपने सर्वस्वको भगवान्‌के अर्पण कर देता है तो भगवान् अपने-आपको और अपने सर्वस्वको उसके अर्पण कर देते हैं। एक तुच्छ प्राणी भगवान्‌को चाहता है और स्मरण करता है तो भगवान् भी उसे उसी प्रकार चाहते और स्मरण करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(गीता ४। ११)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।'

यह है भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यता! जो भगवान्‌के जन्म और कर्मोंकी दिव्यताको तत्त्वसे जान जाता है, उसका भी कल्याण हो जाता है; फिर उनकी आज्ञाका पालन करनेसे और उनके कर्मोंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

भला बताइये, संसारमें ऐसा कौन मनुष्य है, जो इस प्रकार भगवान्‌के समान बर्ताव कर सकता है। अपनेको भगवान् मनवानेवाले तो बहुत हैं, पर उनमें भगवान्‌के लक्षणोंमेंसे एक भी नहीं घटता। अतः सब लोगोंको सचेत हो जाना चाहिये कि जो अपनेको भगवान् मनवाते हैं, उनसे सदा दूर ही रहें।

इसी प्रकार जो अधिकारी (कारक) महापुरुष होते हैं, उनके जन्म-

कर्म भी दिव्य-अलौकिक और पवित्र होते हैं। वे जन्मसे पूर्व ही मुक्त हैं, केवल संसारके कल्याणके लिये भगवान्‌से अधिकार पाकर उनके परमधामसे आते हैं। उनमें दुर्गुण और दुराचारका अंश भी नहीं रहता और उनका शरीर भी अनामय (रोगरहित) होता है। संसारमें जितने भी अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए हैं, उनमेंसे किसीके कोई बीमारी हुई हो, यह बात ग्रन्थोंमें कहीं नहीं मिलती; क्योंकि बीमारी तो पापोंसे होती है और भगवान् या अधिकारी (कारक) महापुरुष नित्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप होते हैं। वे महापुरुष भगवान्‌से अधिकार प्राप्त करके संसारके कल्याणके लिये संसारमें आते हैं, इसीलिये उनको अधिकारी पुरुष कहते हैं। उनमें गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हुए भक्तोंके लक्षण तो पहलेसे विद्यमान रहते ही हैं। उदाहरणके लिये श्रीवेदव्यासजी अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए। उनका अद्भुत प्रभाव था। उन्होंने जन्म लेते ही अपनी इच्छासे शरीरको बढ़ा लिया और स्वतः ही अङ्गों और इतिहासोंके सहित वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया (महा० आदि० ६० । ३)। श्रीवेदव्यासजी जहाँ-कहीं भी विशेष आवश्यकता समझते, वहीं बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते थे। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंको एकचक्रा नगरीमें जानेसे पूर्व भी दर्शन दिया और वहाँ निवास करते हुए जब पाण्डव वहाँसे जानेका विचार करने लगे, तब पुनः दर्शन दिया और द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाया (महा० आदि० १५५, १६८)। इसी प्रकार पाञ्चाल-नगरीमें राजा द्रुपदके यहाँ प्रकट होकर उनसे भी द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहा एवं उनको दिव्य दृष्टि देकर पाण्डवोंको उनके पूर्व शरीरोंसे सम्पन्न वास्तविक दिव्य रूपमें दिखला दिया (महा० आदि० १९६)।

इतना ही नहीं, आश्रमवासिकपर्वमें तो ऐसा वर्णन मिलता है कि वहाँ राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके सम्मुख श्रीवेदव्यासजी आये एवं जब गान्धारी और कुन्तीने अपने मृत पुत्रों तथा कुटुम्बियोंको देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब श्रीवेदव्यासजीने उस अठारह अक्षौहिणी सेनाको संहारके

सोलह वर्ष बाद भी आह्वान करके बुला दिया। सोलह वर्ष पूर्व मरे हुए उन सब प्राणियोंके रूप, आकृति, अवस्था, वेष, ध्वजा और वाहन—ये सब वैसे-के-वैसे ही थे (महा० आश्रम० ३२)। इसी प्रकार राजा जनमेजयके प्रार्थना करनेपर श्रीवेदव्यासजीने राजा परीक्षित्‌को उसी रूप और अवस्थामें यज्ञमें बुला दिया (महा० आश्रम० ३५)। यह कितने आश्चर्यकी बात है! क्या कोई मनुष्य इस प्रकार कर सकता है? अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष मनवाना तो बहुत-से मनुष्य चाहते हैं, पर उनके लक्षणोंमेंसे एक भी लक्षण उनमें नहीं घटता। दम्भीलोग अपनेको पुजवानेके लिये अपनेको भगवान् या भगवान्‌का भेजा हुआ महापुरुष बतलाकर लोगोंको धोखा देते हैं; अतः जो अपनेको अवतार, अधिकारी महापुरुष या ज्ञानी महात्मा कहें, उनके चंगुलमें कभी नहीं फँसना चाहिये, उनसे सदा दूर ही रहना चाहिये; क्योंकि इस समय न तो कोई भगवान्‌का अवतार है और न कोई अधिकारी (कारक) महापुरुष ही भगवान्‌का अधिकार पाकर भगवान्‌के भेजे हुए यहाँ आये हैं। यदि ऐसा होता तो वर्तमानमें जो धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि हो रही है, वह कभी हो नहीं सकती थी; क्योंकि भगवान् और उन अधिकारी (कारक) महापुरुषोंके तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक दर्शन, भाषण, वार्तालाप, चिन्तन और सत्सङ्गसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है; फिर उनकी सेवा, आज्ञाका पालन और अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इस समय तो महाराज युधिष्ठिर-जैसे महात्माओंका भी सम्पर्क दुर्लभ है, जिनके दर्शन और भाषणसे नहुष-जैसे महान् पापी भी पापसे मुक्त हो स्वर्गको चले गये (महा० वन० अ० १८१)। इतना ही नहीं, महाराज युधिष्ठिर बड़े ही प्रभावशाली पुरुष थे। उनमें मन-इन्द्रियोंका संयम, ज्ञान-विज्ञान, सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते थे। वे जिस देशमें निवास करते थे। उस देशकी प्रजा धार्मिक बन जाती थी। उस देशमें धन, धान्य, गो-वंश, धर्म और सदाचारकी वृद्धि होती थी। महाराज युधिष्ठिरके

प्रभावसे उस देशमें समयपर वर्षा होती, खेत हरे-भरे रहते और धर्मका प्रचार होता था। एवं उस देशके लोग दानशील, उदार, विनयी, लज्जाशील, मितभाषी, सत्यपरायण, शुभकर्म करनेवाले, जितेन्द्रिय, निर्भय, संतुष्ट, पवित्र, हृष्ट-पुष्ट और कार्यकुशल तथा अभिमान, द्वेष और ईर्ष्या आदि विकारोंसे शून्य होते थे। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने-अपने धर्मके अनुसार यज्ञ, तप, दान, वेदाध्ययन आदि करते थे। सब अपने धर्मका पालन करते थे (महा० विराट० अ० २८)।

अपनेको युधिष्ठिरके तुल्य बतलाना तो सहज है, पर उनके समान बनना साधारण बात नहीं है। युधिष्ठिर बहुत उच्च कोटिके धर्मात्मा पुरुष थे। उन्होंने बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका सामना किया, किंतु अपने धर्मका त्याग नहीं किया। अतएव हमलोगोंको भी युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा बननेके लिये उनके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

जो पुरुष इस संसारमें अपने पुण्य-पापमय कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-जन्म लेनेके पश्चात् साधनके द्वारा इसी जन्ममें मुक्ति-लाभ कर लेते हैं, उनमें भी गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक कहे हुए भगवत्प्राप्त भक्तके तथा १४ वें अध्यायके २२ वेंसे २५ वें श्लोकतक कहे हुए गुणातीत ज्ञानीके लक्षण आ जाते हैं; किंतु उनके शरीर अनामय नहीं होते और उनमें अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुषोंकी भाँति जहाँ-कहीं प्रकट हो जाना, मृत व्यक्तियोंको बुलाकर प्रत्यक्ष मिला देना आदि अमानुषिक अलौकिक प्रभाव ही होता है। हाँ, मुक्त हो जानेके अनन्तर उनके कर्म, स्वभाव आदि शुद्ध हो जाते हैं; अतः उनके निष्कामभावसे सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरणसे मनुष्योंका उद्धार हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४।३४)

'अर्जुन! तू उस ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ;

****

उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगको न जानते हुए भी, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निस्संदेह तर जाते हैं।'

भगवान्‌के उपर्युक्त वचनोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको भगवत्प्राप्त भक्तों तथा ज्ञानी महात्माओंके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरण आदिसे विशेष लाभ उठाना चाहिये।

★

ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन

श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस प्रकार योगनिष्ठाकी दृष्टिसे स्थान-स्थानपर कर्म और उपासनाका उल्लेख है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे भी उनका वर्णन है। यद्यपि ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे किये गये साधनोंकी कर्मसंज्ञा नहीं है, फिर भी उन्हें क्रिया अथवा चेष्टामात्र कह ही सकते हैं। उनको कर्म कहना केवल समझानेके लिये ही है।

ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक फलस्वरूप ज्ञान और दूसरा साधनरूप ज्ञान। यहाँ ज्ञाननिष्ठा कहनेका अभिप्राय योगनिष्ठाके समान ही साधनरूप ज्ञान है। योगनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनोंसे ही फलरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है। उसको चाहे परमात्माका यथार्थ ज्ञान कहा जाय अथवा तत्त्वज्ञान; वह सभी साधनोंका फल है और सभी साधकोंको प्राप्त होता है

(गीता अध्याय ५, श्लोक ४-५) । फलरूप ज्ञानसे जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसे श्रीमद्भगवद्गीतामें निर्वाण ब्रह्म, परम पद, परम गति, अमृत और माम् आदि नामसे कहा गया है। यही परमात्माकी प्राप्ति है और यही समस्त साधनोंका अन्तिम फल है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस परम पदकी प्राप्तिके लिये सांख्य अर्थात् ज्ञानयोगकी दृष्टिसे भी अनेकों साधन बतलाये गये हैं। उनका उल्लेख मुख्यरूपसे चार भागोंमें विभक्त करके किया जाता है। इनके अवान्तर भेद भी बहुत-से हो सकते हैं। वे अपनी-अपनी समझ और साधककी दृष्टिपर निर्भर करते हैं। उनके सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला जाता है। अभेदनिष्ठाकी दृष्टिसे साधनके निम्नलिखित चार मुख्य भेद हैं—

(१) जड, चेतन, चर और अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह क्षणभङ्गुर, नाशवान् और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें कुछ नहीं है। इन सबका बाध अर्थात् अत्यन्ताभाव होनेपर जो कुछ अबाध और अखण्ड सत्यके रूपमें शेष रह जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है।

(३) जड-चेतनके रूपमें जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब आत्मा ही है, आत्मासे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं है।

(४) शरीर आदि सम्पूर्ण दृश्य नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब सबका अभाव हो जाता है, तब जो अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन सत्य वस्तु शेष रह जाती है, वही आत्मा है। इस आत्माको ही देहके सम्बन्धसे देही, शरीरी आदि नामसे व्यवहारमें कहा जाता है। यह आत्मा ही सबका द्रष्टा और साक्षी है।

जैसे भेदभावसे उपासना करनेवाले भक्तको भेदरूपसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है, क्योंकि उसकी धारणा ही वैसी होती है, ठीक वैसे ही पूर्वोक्त ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको भी उनके अपने निश्चयके अनुसार सच्चिदानन्दघन

****

ब्रह्मकी प्राप्ति अभेदरूपसे ही होती है। इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि दोनों निष्ठाओंका अन्तिम फल एक ही है। मन और बुद्धिके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। इसीसे उसका शब्दोंके द्वारा वर्णन नहीं होता। वह अनिर्वचनीय है। वह स्थिति भेद-अभेद, व्यक्त-अव्यक्त, ज्ञान-अज्ञान, सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार आदि शब्दोंके वाच्यार्थसे सर्वदा विलक्षण है। मन और बुद्धिसे परे होनेके कारण उसे समझना-समझाना अथवा बतलाना सम्भव नहीं है। जिसे वह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वही उसे जानता है—यह कहना भी नहीं बनता। यह बात केवल दूसरोंको समझानेके लिये कही जाती है। भला, शब्दोंके द्वारा भी कहीं उसका वर्णन सम्भव है ?

ज्ञाननिष्ठाको गीताजीमें कहीं सांख्य और कहीं संन्यासके नामसे भी बतलाया है।

(१) अब ज्ञाननिष्ठाको लक्ष्यमें रखते हुए उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे पहले साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं।

(क) जितने भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित कर्म हैं, उन्हें यज्ञका रूप देकर कर्ता, कर्म, करण, क्रिया आदि समस्त कारकोंमें ब्रह्मबुद्धि करना। गीताजीमें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें किया गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(४ । २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

यह साधन व्यवहारकालकी दृष्टिसे है। साधक व्यवहारके समस्त उचित कर्मोंको करता हुआ इस प्रकारका भाव रखे और जहाँ-जहाँ दृष्टि

जाय—जो-जो सामने आवे, उसमें ब्रह्मदृष्टि करे, इससे बहुत ही शीघ्र ब्रह्मभावकी जागृति हो जाती है।

(ख) व्यवहारमें कभी प्रिय विषयोंकी प्राप्ति होती है तो कभी अप्रियकी। अनुकूलमें प्रियता और प्रतिकूलमें अप्रियता होती ही है। ज्ञाननिष्ठाके साधकको उनमें प्रिय अथवा अप्रिय-बुद्धि न करके ब्रह्मभाव करना चाहिये और परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर विचरण करना चाहिये। कहीं भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिये। यह साधन प्रारब्धानुसार प्राप्त भोगमें राग-द्वेषका अभाव करके ब्रह्ममें स्थित होनेकी दृष्टिसे है। यह गीताके निम्न श्लोकके अनुसार है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

(५। २०)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

(ग) छान्दोग्योपनिषद् (३। १४। १) के **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** यह सब कुछ ब्रह्म ही है—इस वचनके अनुसार सम्पूर्ण चराचर भूतोंके बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दूर-निकट एवं उन भूतप्राणियोंको भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म समझकर उपासना करना। तात्पर्य यह है कि ध्यानके समय केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण है—इस भावमें स्थित हो जाना। गीतामें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(१३। १५)

'वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है।'

(२) 'जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत हो रहा है, वह मायामय है—इस प्रकार सबका बाध करके जो शेष बच जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है'—इस द्वितीय साधनके अवान्तर भेदोंका उल्लेख नीचे किया जाता है।

(क) यह जो जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत हो रहा है, वह अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाली शरीरकी उपाधिसे ही है। ज्ञानके अभ्यासद्वारा उस भेदप्रतीतिका बाध करके नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको विलीन करनेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करते-करते एक निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी किञ्चिन्मात्र सत्ता नहीं रहती। उपासनाका यह प्रकार जीव और ब्रह्मकी एकताको लक्ष्यमें रखकर है। गीतामें इसका वर्णन इस प्रकार आया है—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।

(४। २५)

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं।'

(ख) साधारणतया ध्यानका अभ्यास प्रारम्भ करनेपर साधकको चार वस्तुएँ जान पड़ती हैं—मन, बुद्धि, जीव और ब्रह्म। साधन प्रारम्भ करते ही जो कुछ स्थूल दृश्य प्रतीत होता है, वह सब भुलाकर मन, बुद्धि और अपने-आपको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप करनेका अभ्यास करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जैसे विशाल समुद्रमें बर्फकी चट्टानके ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, सब ओर जल-ही-जल होता है और वह चट्टान स्वयं भी जलमय ही है—वैसे ही सबको ब्रह्ममय अनुभव करना चाहिये; ऐसा करनेसे क्रमशः मन, बुद्धि और जीव परब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाते हैं, और केवल परमात्मा-ही-परमात्मा रह जाता है। गीता ५। १७ में इस साधनका वर्णन है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

(ग) ब्रह्म अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं विलक्षण वस्तु है। वह चराचर जडका चेतन संसारमें है भी और नहीं भी है। यह संसार परमात्मा सङ्कल्पमात्र है—इसलिये वह इसमें अधिष्ठानरूपसे विराजमान है। इस दृष्टिसे कह सकते हैं कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है। वास्तवमें यह संसार संकल्पमात्र ही है, इसलिये कोई वस्तु नहीं है; तब व्यापक-व्याप्य भाव कैसे बनेगा। इस दृष्टिसे देखें तो एकमात्र परमात्मा ही है। वह किसीमें व्यापक नहीं है। यह संसार भी उस परमात्मामें है और नहीं भी है। इसका कारण यह है कि वह अपने-आपमें ही स्थित है और यह संसार उसीमें प्रतीत हो रहा है। प्रतीतिकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि यह संसार उसीमें है। परन्तु वास्तवमें यह जगत् स्वप्नवत्, कल्पनामात्र होनेके कारण परमात्मामें सर्वथा है ही नहीं। गीताके निम्न श्लोक इस बातका भी संकेत करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

(९।४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

(९।५)

'वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

यद्यपि इन दोनों श्लोकोंमें वर्णन तो सगुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका है, परन्तु ज्ञानयोगका साधक निर्गुण-निराकारकी दृष्टिसे भी यह उपासना कर सकता है।* इस प्रकारका अभ्यास करते-करते सारे संसारका अभाव हो जाता है और एक परमात्मा ही शेष रह जाता है। यह साधन तो ब्रह्मकी अलौकिकताकी दृष्टिसे है। अब आगेका साधन ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है, इस दृष्टिसे लिखा जाता है।

(घ) ब्रह्मका स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि उसे न सत् कह सकते हैं और न असत्। वह सत् और असत् दोनों ही शब्दोंसे अनिर्वचनीय है। वह सत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यकी बुद्धिके द्वारा जिस अस्तित्वका ग्रहण होता है, वह जडका ही होता है। चेतन वस्तु जड बुद्धिका विषय नहीं है। इस दृष्टिसे वह सत्से विलक्षण है। परन्तु उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तवमें उसका अस्तित्व है। जो इस प्रकार सत् और असत्से विलक्षण अचिन्त्य, अनादि, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वको समझकर उसका पुनः-पुनः चिन्तन करता है, उसके लिये सारे संसारका बाध हो जाता है और उस अमृतमय परब्रह्म परमात्माकी सदाके लिये अभेदरूपसे प्राप्ति हो जाती है। वह स्थिति मन-बुद्धिसे परे और वाणीसे अतीत है। उसका कहना-सुनना नहीं हो सकता।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(१३।१२)

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त

---

* इन श्लोकोंका विस्तार श्रीगीतातत्त्व-विवेचनीमें देखना चाहिये।

होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

(ङ) ब्रह्मके अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं सत्, असत्से विलक्षण होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप होनेके कारण केवल सत्ताको प्रधानता देकर भी उसकी उपासना की जा सकती है। जगत्में जितने भी विनाशी पदार्थ देखनेमें आते हैं, उन सबमें अविनाशी परमात्माको समभावसे देखना चाहिये। जैसे एक ही आकाश घड़ोंकी उपाधिके भेदसे अनेकों रूपमें प्रतीत होता है, वास्तवमें अनेक नहीं है। घड़ोंकी उपाधि नष्ट हो जानेपर वह एक ही दीखने लगता है और वास्तवमें वह एक ही है। घड़ोंकी उपाधि रहनेपर भी आकाशमें भिन्नता नहीं आती। वैसे ही एक ही परमात्मा शरीरोंके भेदसे अनेक-सा दीखता है, परन्तु वास्तवमें एक ही है। इस प्रकार समझकर जो इस नाशवान् जगत्में एक नित्य विज्ञानानन्दघन अविनाशी परमात्माको सदा-सर्वदा समभावसे देखता है, वह इस जड संसारका बाध करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इसका उल्लेख यों हुआ है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३।२७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(१८।२०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

(च) जिस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी सत्ताकी प्रधानता देकर

उपासना हो सकती है, वैसे ही केवल चेतनभावको प्रधानता देकर भी हो सकती है। उसका प्रकार यह है कि ब्रह्म अज्ञानरूप अन्धकारसे परे सबका प्रकाशक और विज्ञानमय है। उसका स्वरूप परम चैतन्य एवं अखण्ड अनन्त ज्योतिर्मय है। जो ब्रह्मके इस स्वरूपके ध्यानमें तन्मय हो जाता है वह भी इस जड संसारका बाध करके अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इस स्वरूपकी उपासना निम्नलिखित श्लोकमें वर्णित है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(१३।१७)

'वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

(छ) सत् और चेतनभावके समान ही आनन्दभावकी प्रधानतासे भी उपासना होती है। साधकको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि परिपूर्ण, अनन्त, विज्ञानानन्दघन परमात्मा आनन्दका एक महान् समुद्र है और मैं उसमें बर्फकी डलीकी तरह डूब उतरा रहा हूँ। मेरे नीचे-ऊपर, भीतर-बाहर सर्वत्र आनन्दकी ही धारा प्रवाहित हो रही है—आनन्दकी ही तरङ्गें उठ रही हैं और सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्दकी बहार मची हुई है। यह आनन्द कैसा है? पूर्ण है, अपार है, शान्त है, घन है, अचल है, यह ध्रुव, नित्य तथा सत्य है, यही बोधस्वरूप है, यही ज्ञानस्वरूप है—यह आनन्द अचिन्त्य है, सर्वश्रेष्ठ है, सम है, यह आनन्द ही सत्ता है, यह आनन्द ही चेतन है, यह आनन्द ही सब कुछ है। जब साधक इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दभावकी भावना करते-करते उसीमें मग्न हो जाता है, तब उसकी स्थिति निम्नलिखित हो जाती है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥(६।२१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

यहाँतक जिन उपासनाओंका उल्लेख किया गया है, वे तत् पदार्थको लक्ष्यमें रखकर **'इदम्'** रूपसे की जानेवाली हैं। वास्तवमें ब्रह्म **'इदम्'** अथवा **'अहम्'** किसी भी वृत्तिका विषय नहीं है। साधककी उपासनाके लिये ही उसका वृत्त्यारूढ रूपसे वर्णन किया जाता है। जैसे ऊपर **'इदम्'** वृत्तिके द्वारा होनेवाली उपासनाका वर्णन हुआ, वैसे ही **'त्वम्'** पदके लक्ष्यार्थको दृष्टिमें रखकर **'अहम्'** बुद्धिसे होनेवाली उपासनाकी पद्धति नीचे बतलायी जाती है।

(३) **'सर्वं यदयमात्मा'** (बृ० उ० २।४।६) इस श्रुतिके अनुसार जो कुछ है, वह सब आत्मा ही है अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस तृतीय साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं। इसके केवल तीन प्रकार ही बतलाये जाते हैं। प्रथममें यह दृष्टि रखी गयी है कि समस्त भूतप्राणी आत्माके अन्तर्गत हैं। दूसरेमें यह दृष्टि रखी गयी है कि भूत और आत्मा ओतप्रोत हैं। तीसरेमें सबके सुख-दुःखको आत्मसदृश अनुभव करनेकी बात है। उनका विवरण निम्नलिखित है—

(क) साधकको चाहिये कि तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुषोंकी सेवामें उपस्थित होकर ज्ञाननिष्ठाके तत्त्वको सरलतासे समझे, और अज्ञानजनित देहात्मबुद्धिको हटाकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और अपने अनन्त चेतन आत्मस्वरूपके अन्तर्गत सारे चराचर भूत-प्राणियोंको एक अंशमें स्थित समझे। वह ऐसा अभ्यास करे कि जैसे आकाशसे उत्पन्न वायु, जल, तेज और पृथ्वी उसके एक अंशमें स्थित हैं, वैसे ही मुझ अनन्त नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके एक अंशमें यह सारा संसार स्थित है। इस प्रकार पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको अभेदरूपसे प्राप्त कर लेता है।

****

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलता-पूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ (४। ३५)

'जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

(ख) जो कुछ जड-चेतन, चराचर प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है। ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है। जैसे सर्वव्यापी आकाश सम्पूर्ण बादलोंमें सर्वत्र समानभावसे व्यापक रहता है, वैसे ही इन समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें आत्मा समानभावसे व्यापक रहता है। जिस प्रकार आकाशसे ही झुंड-के-झुंड बादल पैदा होते हैं और उसीमें स्थित रहते हैं, इसलिये सारे बादलोंका कारण और आधार आकाश ही है, ठीक वैसे ही समस्त भूत-प्राणियोंका कारण और आधार आत्मा है। इस प्रकार समझकर चराचर भूतप्राणियोंको अपना स्वरूप ही समझना चाहिये और सबको अपनी आत्मामें तथा आत्माको सारे भूत-प्राणियोंमें समभावसे देखना चाहिये। इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त

आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

(ग) जैसे देहाभिमानी मनुष्य अपने देहके हाथ-पैर आदि सारे अङ्गोंमें अपने-आपको और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको समभावसे देखता है, वैसे ही साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वको आत्मा समझकर समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें अपने-आपको और उनके सुख-दुःखोंको समभावसे देखनेका अभ्यास करे। अभिप्राय यह है कि जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये अथक प्रयत्न करता है, वैसे ही साधक विश्वके किसी भी व्यक्तिको कभी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परताके साथ उसके सुखके लिये चेष्टा करे। इस प्रकार समस्त भूतोंको आत्मा समझकर उनके हितकी चेष्टा करनेसे मनुष्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इस भावको इस प्रकार प्रकट किया गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

(४) शरीर आदि जितने भी दृश्यपदार्थ हैं, वे सब नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें नहीं हैं। **'त्वम्'** पदका लक्ष्यार्थ आत्मा अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन होनेसे सत्य वस्तु है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस चतुर्थ साधनके कुछ अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

(क) आत्मा अर्थात् **'अहम्'** पदका लक्ष्यार्थ अजन्मा, अचिन्त्य, अचल, अक्रिय, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। वह शाश्वत, अव्यय, अक्षर और नित्य होनेके कारण सत्य है। उस अविनाशीके ये प्रतीत होनेवाले

विनाशशील, अनित्य और क्षणभङ्गुर देह आदि असत्य हैं, क्योंकि उस अधिष्ठानरूप, सत्यस्वरूप आत्माके स्वप्नवत् संकल्पके आधारपर ही ये टिके हुए हैं। इस प्रकार समझकर आत्माके सब विनाशशील जडवर्गका अत्यन्त अभाव करके अपने अविनाशी सत्यस्वरूप आत्मामें ही नित्य-निरन्तर बुद्धिको लगाना चाहिये। जब इस प्रकारके अभ्याससे वृत्ति आत्माकार हो जाती है, तब शेषमें एक आत्मा ही बच रहता है और वही अपना स्वरूप है। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे इस क्षणभङ्गुर एवं जड दृश्यवर्गका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥

(२। १७-१८)

'नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग—व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(२। १९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा

मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(२।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) जिस प्रकार विनाशी पदार्थोंमें विद्यमान अविनाशी वस्तुकी सत्ताको प्रधानता देकर उपर्युक्त उपासना होती है, वैसे ही इन जड पदार्थोंका अभाव करके साक्षी और द्रष्टाके रूपमें चेतनको प्रधानता देकर भी होती है। यह संसार क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य एवं जड है। इससे इन्द्रियोंको हटाकर अहंता, ममता, कामना और आसक्तिका त्यागकर विवेक एवं वैराग्ययुक्त बुद्धिसे निःसङ्कल्पताका अभ्यास करना चाहिये—अर्थात् जो कुछ दृश्य सामने आवे, उसको अनित्य और नाशवान् समझकर उसके अभावका अभ्यास करना चाहिये। उनकी विनाशिता और अनित्यताका विचार इसमें सहायक होता है। इस प्रकार पुनः-पुनः सबके अभाव तथा निःसङ्कल्पताका अभ्यास करते-करते अन्तमें केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है। वही ब्रह्म है। यह बात समझकर अभ्यास करनेसे अचिन्त्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें यह बात इस प्रकार कही गयी है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(६।२५)

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त

बुद्धिके द्वारा मनको आत्मामें स्थित करके आत्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(१३।३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिके अभावको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

(ग) जिस प्रकार सत्की प्रधानता और चेतनकी प्रधानतासे **अहम् (त्वम्)** पद लक्ष्यार्थ ब्रह्मकी उपासना होती है, वैसे ही आनन्दकी प्रधानतासे भी ब्रह्मकी उपासना होती है। साधकको चाहिये कि दृश्यमात्रको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर सबको मनसे त्याग दे और एकमात्र आत्मानन्दका ही चिन्तन करे। आनन्द ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है। ऐसा समझकर यह अनुभव करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, सत्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, परम आनन्द, अत्यन्त आनन्द, सम आनन्द, चेतन आनन्द, एक आनन्दके सिवा और कुछ नहीं है। वह आनन्द ही आत्मा है। आनन्द ही मेरा स्वरूप है। मुझ आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते अपनेको उस आनन्दसागर आत्मस्वरूपमें इस प्रकार विलीन कर दे जैसे जलमें बर्फकी डली। इस प्रकारके अभ्याससे साधक संसारसे मुक्त होकर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। गीताजीमें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें

स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

(घ) जिस प्रकार सत्, चित् और आनन्दको अलग-अलग प्रधानता देकर उपासना की जाती है, वैसे ही उनको एक साथ मिलाकर भी चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द दोनोंकी प्रधानतासे इस प्रकार उपासना करनी चाहिये। सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर सारे सङ्कल्पोंसे रहित हो जाय और **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृहदा० १।४।१०) इस श्रुतिके अनुसार एक नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही आत्मा समझकर अर्थात् वह सच्चिदानन्दघन मेरा स्वरूप ही है—इस ज्ञानपूर्वक दृढ़ निश्चयके साथ उसमें अभेदरूपसे स्थित होना चाहिये। उसमें स्थित होकर विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। आत्मस्वरूप वास्तवमें परिपूर्ण चेतन, अपार, अचल, ध्रुव, नित्य, परम सम, अनन्त पूर्णानन्द एवं परम शान्तिमय है। आत्मामें अज्ञानान्धकार-रूपिणी माया नहीं है। वह उससे अत्यन्त विलक्षण, परम देदीप्यमान प्रकाश और परम विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार समझकर उसका निरन्तर चिन्तन करते हुए उसीमें रमते हुए तन्मय होकर आनन्दमग्न रहना चाहिये। ऐसे अभ्याससे उस परमपद, अचिन्त्यस्वरूप, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५।२४)

'जो पुरुष निश्चयपूर्वक अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।*

---

* यह साधन ध्यानकी दृष्टिसे है—अब आगेका साधन व्यवहारकी दृष्टिसे बतलाया जाता है।

****

(ङ) अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह प्रमाद-आलस्य, निद्रा और पाप आदिसे रहित होकर अपने विज्ञानानन्दघन अनन्त आत्मस्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और इस शरीर तथा संसारको अपने आत्माके एक अंशमें संकल्पके आधारपर स्थित समझकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मनके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली समस्त क्रियाओंके होते समय यह समझे कि यह सब मायामय गुणोंके कार्यरूप मन, प्राण, इन्द्रिय आदि अपने-अपने मायामय गुणोंके कार्यरूप विषयोंमें विचर रहे हैं—वास्तवमें न तो कुछ हो ही रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है अर्थात् नेत्रेन्द्रिय रूप देख रही है—श्रवणेन्द्रिय शब्द सुन रही है, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श कर रही है—घ्राणेन्द्रिय सूँघ रही है—रसना रस ले रही है—वागिन्द्रिय बोल रही है—इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं—इन सबके साथ मुझ चेतन द्रष्टा साक्षी आत्माका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार कर्तापनके अभिमानसे रहित हो नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपको लक्ष्यमें रखते हुए सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर द्रष्टा साक्षी होकर विचरे—तात्पर्य यह है कि मन, इन्द्रियाँ और उनके विषय जो कुछ भी देखने और समझनेमें आते हैं, वे सब सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप होनेके कारण गुण ही हैं—इसलिये जो कुछ भी क्रिया अर्थात् चेष्टा होती है, वह गुणोंमें ही होती है। यह सब क्षणभङ्गुर, जड और मायामय होनेके कारण अनित्य हैं। **'अहम्'** पदका लक्ष्यार्थ आत्मा द्रष्टा, साक्षी और चेतन होनेके कारण नित्य, सत्य और उनसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-सोते, सब समय इन मायामय पदार्थों और कर्मोंका अभाव समझकर चिन्मय, साक्षी आत्माको उन सबसे अलग और निर्लेप अनुभव करना चाहिये और अचल तथा नित्यरूपसे स्थित रहना चाहिये। जो कुछ दृश्यमान पदार्थ हैं, वे मायामरीचिकाकी भाँति बिना हुए ही प्रतीत होते हैं—वास्तवमें एक द्रष्टा साक्षी चेतन, निर्लेप आत्मा ही है। इस प्रकार अभ्यास

करते-करते दृश्यमान संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५।८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(गीता १४।१९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

यह साधन सब प्रकारके विहित कर्मोंको करते हुए भी चलता रहता है।

(च) यह साधना विचारकालकी है। इसके द्वारा आत्माके परत्वका विचार होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसकी पद्धति यह है कि यह दृश्यमान शरीर पृथ्वीपर स्थित है, इसलिये पृथ्वी इससे परे है। पृथ्वीसे तेज, वायु, आकाश, समष्टि मन और महत्त्व (समष्टि बुद्धि) उत्तरोत्तर पर हैं। महत्तत्त्वसे भी पर अव्याकृत माया है और उससे भी परे परम पुरुष परमात्मा है। परमात्मासे परे और वस्तु नहीं है, क्योंकि वह सबकी सीमा है। इस प्रकार बाह्य-दृष्टिसे नित्य विज्ञानानन्दघन तत्त्वको पर-से-पर विचार करके

****

आभ्यन्तर-दृष्टिसे पर-से-पर आत्माका चिन्तन करना चाहिये। स्थूल शरीरसे परे सूक्ष्म और आभ्यन्तर प्राण हैं। प्राणोंसे इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उत्तरोत्तर पर, सूक्ष्म एवं आभ्यन्तर हैं। तदनन्तर स्वभाव अर्थात् अव्याकृत मायाका अंश है। उससे पर और आभ्यन्तर आत्मा है। वही अपना स्वरूप है। उससे सूक्ष्म और आभ्यन्तर कुछ भी नहीं है। वह स्वयं ही अपने-आप है और सबकी सीमा है। आत्मा परमात्मासे भिन्न जो कुछ भी दृश्यवर्ग है, वह मायामय है—मायाका कार्य है। इसीके कारण आत्मा और परमात्मामें घटाकाश और महाकाशकी भाँति भेद-सा प्रतीत होता है। वास्तवमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जिस प्रकार घटके नाशसे घटाकाश और महाकाशकी एकता प्रत्यक्ष दीखने लगती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके द्वारा मायामय अज्ञानका नाश होनेपर आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार हो जाता है। अतएव मायाके कार्यरूप दृश्यमान जड जगत्‌को कल्पित अथवा प्रतीतिमात्र समझकर इसके चिन्तनसे रहित हो जाना चाहिये और एक नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके स्वयंसिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये; इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य परमगतिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यही बात गीता और कठोपनिषद् भी कहती है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(३।४२)

'इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है।'

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठोपनिषद् १।३।१०-११)

'इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) पर है। महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही [सूक्ष्मतत्त्वकी] पराकाष्ठा (हद) है, वही परा गति है।'

(छ) परमात्माको प्राप्त पुरुषकी जैसी स्वाभाविक स्थिति होती है, उसको लक्ष्य करके वैसी ही स्थिति प्राप्त करनेके लिये साधक साधना करता है। इस दृष्टिसे साधकको चाहिये कि स्वप्नसे जगनेके बाद जैसे स्वप्नकी सृष्टिमें सत्ता, ममता और प्रीति लेशमात्र भी नहीं रहती, वैसे ही इस संसारको स्वप्नवत् समझे, एवं ममता और आसक्तिसे रहित होकर संसारके बड़े-से-बड़े प्रलोभनोंमें भी न फँसे और किसी भी घटनासे किञ्चिन्मात्र भी विचलित न हो। साथ ही किसीके साथ अपना कोई सम्बन्ध न समझे। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा निर्विकार अवस्थामें स्थित रहे और अपने नित्य-विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका नित्य निरन्तर चिन्तन करे। इस प्रकार अपने आत्मामें ही रमण करता हुआ आत्मानन्दमें ही तन्मय और मग्न रहे। यह अभ्यास करनेसे मनुष्य क्लेश, कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त होकर परमशान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। गीतामें परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन इस प्रकार है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(३।१७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठाकी साधनाके अनेक अवान्तर भेद शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। यहाँ केवल श्रीमद्भगवद्गीताकी दृष्टिसे कुछ बातें लिखी गयी हैं। साधकोंकी श्रद्धा, रुचि, धारणा, पद्धति और अधिकारभेदसे और भी बहुत-से भेद हो सकते हैं। पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनका

लगन और तत्परताके साथ अनुष्ठान करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। सभी साधनोंका फल एक ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी एकको अपनाकर तत्परताके साथ लग जाना चाहिये।

——★——

भ्रम अनादि और सान्त है

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होनेके कारण ज्ञानकी प्राप्ति करनी नहीं पड़ती और न उसकी प्राप्तिमें कोई परिश्रम या यत्नकी ही आवश्यकता है। किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेमें परिश्रम और यत्न करना पड़ता है, परंतु यहाँ तो केवल नित्यप्राप्त ब्रह्ममें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है उस भ्रमको मिटा देना ही कर्तव्य है। वास्तवमें यह भ्रम ब्रह्मको नहीं है। यह भ्रम उसीमें है जो इस संसारके विकारको नित्य मानता है। वास्तवमें तो ब्रह्ममें भूल न होनेके कारण उसे मिटानेके लिये परिश्रम करना भी एक भ्रम ही है, परंतु जबतक भूल है तबतक भूलको मिटानेका साधन करना चाहिये, अवश्य ही उन लोगोंको, जो इस भूलमें हैं। जो इस भूलको मानता है उसके लिये तो यह अनादिकालसे है। ऐसा कहा जाता है कि अनादिकालसे होनेवाली वस्तुका अन्त नहीं होता। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि भूल तो मिटनेवाली ही होती है, यदि भूल है तो उसका अन्त भी आवश्यक है। यदि ऐसा माना जाय कि यह सान्त नहीं है तो फिर किसीको भी 'प्राप्ति' नहीं हो सकती। इसलिये यह अनादि और सान्त अवश्य है। यदि यह माना जाय कि यह भूल अनादिकालसे नहीं है, पीछेसे हुई है तो इसमें तीन दोष आते हैं— प्रथम तो 'प्राप्त' पुरुषोंका पुनः भूलमें पड़ना सम्भव है, दूसरे सृष्टिकर्ता ईश्वरपर दोष आता है और तीसरे नये जीवोंका बनना सम्भव होता है। इस हेतुसे यह भूल अनादि और सान्त ही सिद्ध होती है। वास्तवमें कालकी कल्पना भी मायामें ही है; क्योंकि ब्रह्म तो शुद्ध और कालातीत है।

वेद, शास्त्र और तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका भी यह कथन है कि एक शुद्ध

बोध ज्ञानस्वरूप परमात्मा ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, परंतु किसी भी व्यक्तिके द्वारा 'संसार असत् है' यों कहा जाना उचित नहीं; क्योंकि वास्तवमें यों कहना बनता नहीं। संसारको असत् माननेसे संसारके रचयिता सृष्टिकर्ता ईश्वर, विधि-निषेधात्मक शास्त्र, लोक-परलोक और पाप-पुण्य आदि सभी व्यर्थ ठहरते हैं और इनको व्यर्थ कहना या मानना अनधिकारकी बात है। जिस वास्तविकतामें शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यका आत्यन्तिक अभाव है, उसमें तो कुछ कहना बनता नहीं, कहना भी वहीं बनता है कि जहाँ अज्ञान है और जहाँ कहना बनता है वहाँ सृष्टिके रचयिता, संसार और शास्त्र आदि सब सत्य हैं और इन सबको सत्य मानकर ही शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। सात्त्विक आचरण और भगवान्‌की विशुद्ध भक्तिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर जिस समय भ्रम मिट जाता है उसी समय साधक कृतकृत्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है।

——★——

देश-काल-तत्त्व

देश और कालके सम्बन्धमें हमलोगोंका जो ज्ञान है वह बहुत ही सीमित और सङ्कुचित है। हमलोग प्रायः इस स्थूल देशको ही देश और युग, वर्ष आदि स्थूल कालको ही काल समझते हैं। इनकी गहराईमें नहीं जाते। देश क्या वस्तु है, उसका मूल स्वरूप क्या है; समय या काल क्या वस्तु है और उसका मूल स्वरूप क्या है, इसे ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर लेनेपर देश और कालविषयक हमारा अधूरा ज्ञान बहुत अंशोंमें पूर्ण हो सकता है और हमारी दृष्टि सीमित देश और परिमित कालसे परे पहुँच जा सकती है।

विचारणीय विषय यह है कि हम जिस आकाशादिको देश और युग, वर्ष, मास, दिन आदिको काल समझते हैं, वह देश-काल तो प्रकृतिसे उत्पन्न है और प्रकृतिके अन्तर्गत है। परन्तु महाप्रलयके समय जब यह कार्यरूप सम्पूर्ण जगत् अपने कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाता है उस समय

देश-कालका क्या स्वरूप होता है ? वह देश-काल प्रकृतिका कार्य होता है या कारण ?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि स्थूल देश, काल जिस प्रकृतिरूप देश-कालमें लय हो जाता है वह प्रकृतिरूप देश-काल तो प्रकृतिका स्वरूप ही है और इस प्रकृतिका जो अधिष्ठान है अर्थात् यह प्रकृति अपने कार्य सम्पूर्ण जड दृश्यवर्गके लय हो जानेके बाद भी जिसमें स्थित रहती है, वह अधिष्ठान प्रकृतिका कार्य कभी नहीं हो सकता। वह तो सबका परम कारण है और सबका परम कारण वस्तुतः एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है। उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें मूलप्रकृति या माया स्थित है। वह प्रकृति कभी साम्यावस्थामें रहती है और कभी विकारको प्राप्त होती है। जिस समय वह साम्यावस्थामें रहती है उस समय अपने कार्य समस्त जड दृश्यवर्गको अपनेमें लीन करके परमात्माके किसी एक अंशमें स्थित रहती है और जिस समय वही परमात्माके सकाशसे विषमताको प्राप्त होती है, उस समय उससे परमात्माकी अध्यक्षतामें संसारका सृजन होता है। सांख्य और योगके अनुसार सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके स्वरूप हैं, परन्तु गीता आदि वेदान्तशास्त्रोंके अनुसार ये प्रकृतिके कार्य हैं।

गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। (गीता १४।५)

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ (१३।१९)

प्रकृतिमें विकार होनेपर पहले सत्त्वगुणकी उत्पत्ति होती है, फिर रजोगुणकी और उसके बाद तमोगुणकी। सत्त्वगुणसे बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ तथा तमोगुणसे पञ्चस्थूलभूतोंकी उत्पत्ति हुई है। इन्हीं भूतोंमें आकाश है और यही आकाश* हमारे इस व्यक्त स्थूल

---

* यह आकाश प्रकृतिका कार्य होनेसे उत्पत्ति, स्थिति और लय धर्मवाला है। माया

देशका आधार है। इसी प्रकार हमारा युग, वर्ष, मास, दिन आदिरूप स्थूल काल भी प्रकृतिसे प्रादुर्भूत है। यह देश-कालका स्थूल रूप है। यह जड और अनित्य है। सबका अधिष्ठान होनेसे परमात्मा ही सबको सत्तास्फूर्ति देता है, इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्डमें प्रत्येक वस्तुमें व्याप्त होनेपर भी इस स्थूल देश-कालसे और इस देश-कालके कारणरूप प्रकृतिसे भी परे है। स्थूल देश-कालको तो हमारी इन्द्रियाँ और मन समझ सकते हैं; परन्तु सूक्ष्म देश-कालतक उनकी पहुँच नहीं है। महाप्रलयके समय प्रकृति जिस परमात्मामें स्थित रहती है और जबतक स्थित रहती है, वह अधिष्ठानरूप देश और काल वास्तवमें परमात्मा ही है। वही मूल महादेश और महाकाल है। वह चेतन, उपाधिरहित, नित्य, निर्विकार और अपरिणामी है। वह कालका भी महाकाल* और देशका भी महादेश है, सारे काल और देश एक उसीमें समा जाते हैं। परमात्माका यह नित्य सनातन, शाश्वत और चिन्मय स्वरूप ही देश-कालका आधार है। यह सदा-सर्वदा एकरस है। अव्याकृत मूलप्रकृति महाप्रलयके समय इसी परमात्मारूप देश-कालमें रहती है। हमारी बुद्धिमें आनेवाला यह मायारचित जड और अनित्य देश-काल तो बुद्धिका कार्य है और बुद्धिके अन्तर्गत है। बुद्धि स्वयं मायाका कार्य है। इस मायाके स्वरूपको बुद्धि नहीं बतला सकती; क्योंकि यह

यानी प्रकृति इसका आधार है। प्रकृतिका आधार विज्ञानानन्दघन परमात्मा है, यह पोलरूपी आकाश मूल तन्मात्रारूप आकाशका एक स्थूलस्वरूप है। यह पोल समष्टि अन्तःकरणमें है, समष्टि अन्तःकरण मायामें है और माया परमात्मामें वैसे ही है जैसे स्वप्नका देश-काल स्वप्नद्रष्टा पुरुषके अन्तर्गत रहता है। वस्तुतः यह आकाश या पोल परमात्माका संकल्पमात्र है। इस संकल्पका अभाव होनेपर, जिसका संकल्प है, वह अपनी प्रकृतिसहित स्वयं अधिष्ठानरूपसे रहता है, वह किस प्रकार रहता है सो नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है।

* यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

(कठ० १।२।२५)

'जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों भात हैं और मृत्यु जिसका उपसेचन (शाक, दाल आदि) हैं, वह जहाँ है उसे इस प्रकार (ज्ञानीके सिवा और) कौन जान सकता है?'

बुद्धिसे परे है, बुद्धिका कारण है। इस मायाके दो रूप माने गये हैं—एक विद्या, दूसरा अविद्या। समष्टिबुद्धि विद्यारूपा है और जिसके द्वारा बुद्धि मोहको प्राप्त हो जाती है, वह अज्ञान ही अविद्या है। अस्तु!

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार देश-कालके ये तीन भेद होते हैं—

१-नित्य महादेश या नित्य महाकाल।

२-प्रकृतिरूप देश या प्रकृतिरूप काल।

३-प्राकृत यानी प्रकृतिका कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल काल। इनमें पहला चेतन, नित्य, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। शेष दोनों जड, परिवर्तनशील, अनादि और सान्त हैं।

जिसको सनातन, शाश्वत, अनादि, अनन्त, कालस्वरूप, नित्य, ज्ञानस्वरूप और सर्वाधिष्ठान कहते हैं, निर्विकार-निराकार परमात्माका वह स्वरूप ही मूल नित्य महादेश और महाकाल है।

महाप्रलयके बाद जितनी देर प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूप काल है और अपने कार्यरूप समस्त स्थूल दृश्यवर्गको धारण करनेवाली होनेसे यह कारणरूपा मूलप्रकृति ही प्रकृतिरूप देश है।

आकाश, दिशा, लोक, द्वीप, नगर और कल्प, युग, वर्ष, अयन, मास, दिन आदि स्थूल रूपोंमें प्रतीत होनेवाला प्रकृतिका कार्यरूप यह व्यक्त देश-काल ही स्थूल देश और स्थूल काल है।

इस कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप देश-काल सूक्ष्म और पर है; और इस प्रकृतिरूप देश-कालसे भी वह सर्वाधिष्ठानरूप देश-काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है, जो नित्य, शाश्वत, सनातन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके नामसे कहा गया है। वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित है, परन्तु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला होनेके कारण उस सबके परमाधार अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही देश-काल बतलाया जाता है। संक्षेपमें यही देश-काल-तत्त्व है।

★

प्रकृति-पुरुषका विवेचन

संसारमें दो ही पदार्थ हैं—जड और चेतन। पुरुष चेतन है, प्रकृति जड है। पुरुष द्रष्टा है, प्रकृति दृश्य है। पुरुष निर्विकार है, प्रकृति विकारशीला है। ये दोनों पदार्थ एकदम प्रत्यक्ष हैं। हम सभीमें इन दोनोंको मानना पड़ेगा। इनमें देखनेवाला द्रष्टा है और दूसरा जगत्-रूपमें दीखनेवाला दृश्य है।

जितने भी जीव हैं, वे सब परमात्माके अंश हैं। जिस प्रकार अग्निकी चिनगारियाँ अग्निसे भिन्न नहीं हैं—वस्तुतः दोनों एक ही हैं; उसी प्रकार जीव भी परमात्मासे भिन्न नहीं है। दृश्य जडवर्ग भी प्रकृतिका कार्य होनेसे तत्त्वतः प्रकृति ही है। वह प्रकृतिका ही विकृत रूप है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

(गीता १३। २०)

अर्थात् 'कार्य और करणके उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही गयी है।' आकाश आदि पाँच भूत (तत्त्व) तथा शब्द आदि पाँच विषय यानी गुण—इन दसका नाम कार्य है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार— इन तेरहका नाम करण है। प्रकृति इन सबका कारण है। अतः प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण यह सारा दृश्य-जगत् प्रकृतिका ही स्वरूप है।

अब प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध समझना चाहिये। प्रकृति पुरुषका अंश नहीं है, वह उसकी शक्ति है। शक्ति भी शक्तिमान्से भिन्न नहीं होती।

जब महाप्रलय होता है, उस समय सारा दृश्य-जगत् प्रकृतिमें समा जाता है। उस समय केवल प्रकृति ही रहती है, दृश्य-जगत् नहीं रहता। वेदान्तशास्त्रमें प्रकृतिको अनादि, सान्त तथा योग और सांख्यशास्त्रमें उसे अनादि, नित्य माना गया है। जब वह क्रियारूपमें होती है, तब दृश्यरूपमें दीखने लगती है और जब अक्रियरूपमें होती है, उस समय वह अव्यक्त-रूपमें रहती है। व्यक्तरूपका उत्पत्तिक्रम इस प्रकार है—

मूलप्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ, उसको ही समष्टि-बुद्धि कहते हैं।

समष्टि-बुद्धिसे समष्टि-अहङ्कार और समष्टि-अहङ्कारसे समष्टि-मनकी उत्पत्ति होती है। उसी अहङ्कारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई, इनको इन्द्रियोंके कारणभूत अर्थ कहा है। किसी-किसीने इन सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति अहङ्कारसे बतलायी है और किसी-किसीने महत्तत्त्वसे। वस्तुतः बात एक ही है। समष्टि-बुद्धि, समष्टि-अहङ्कार और समष्टि-मन—ये तीनों एक ही अन्तःकरणकी विभिन्न अवस्थाके तीन नाम हैं। इन पाँचों सूक्ष्मभूतोंसे यानी तन्मात्राओंसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और आकाशादि पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होती है। यही दृश्य-जगत् है।

इस वर्णनसे यह बात स्पष्टरूपसे सिद्ध हो जाती है कि इस दृश्य-जगत्का कारण प्रकृति है। उस प्रकृतिका स्वरूप वाणीसे नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि वाणी उसका कार्य है। इसीसे प्रकृति अनिर्वचनीय है। मन और बुद्धि भी प्रकृतिके कार्य हैं, अतएव ये भी उसको नहीं जान सकते। इसीसे प्रकृति अचिन्त्य और अतर्क्य भी है। इस प्रकार यद्यपि वह वाणी और मन-बुद्धिका विषय नहीं है तो भी उसका होना उसके कार्यरूप इस दृश्य-जगत्से स्पष्ट ही सिद्ध होता है।

प्रकृति और पुरुष दोनों ही व्यापक हैं। कारण अपने कार्यमें सदा व्याप्त रहता है। बर्फमें जलकी व्यापकताकी तरह प्रकृतिकी व्यापकता तो स्पष्ट ही समझमें आ सकती है, किन्तु अति सूक्ष्म होनेके कारण पुरुषकी व्यापकता उतनी शीघ्र और स्पष्टरूपमें समझमें न आनेपर भी वह प्रकृतिकी अपेक्षा विशेष व्यापक है। प्रकृति तो कारण ही है, किन्तु पुरुष—ईश्वर महाकारण है। उसीसे यह संसार धारण किया गया है।

प्रकृति और उसके कार्यमें यह महाकारण ईश्वर सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। यह ऊपर कहा गया है कि कारण अपने कार्यमें सदा व्यापक रहता है। आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई, इसलिये आकाश उसमें व्याप्त है। वायुसे तेजकी उत्पत्ति हुई, इसलिये तेजमें वायु और आकाश दोनों ही व्याप्त हैं। तेजसे जलकी उत्पत्ति हुई, इसलिये जलमें आकाश, वायु, तेज—ये तीनों

तत्त्व व्याप्त हैं। और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई, इसलिये पृथ्वीमें आकाश, वायु, तेज और जल—ये चारों तत्त्व परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार इन सबकी कारणरूपा प्रकृति इन सबमें व्यापक ठहरती है। किन्तु उस शक्तिमान् पुरुषकी यह प्रकृति शक्तिमात्र है। अतः सबका महाकारण वह चेतन पुरुष इस जड प्रकृति और उसके कार्यरूप इस समस्त दृश्य-संसारमें व्याप्त हो रहा है।

अब यह समझनेकी बात है कि ईश्वर-चेतन-पुरुष इस सृष्टिका उपादानकारण है या निमित्तकारण। वस्तुतः यह पुरुष सृष्टिका निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है। भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(४। १३)

अर्थात् 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरेद्वारा रचा गया है।' यहाँपर श्रीभगवान्ने अपनेको निमित्तकारण बतलाया है; किन्तु—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

(गीता ९। १०)

—इस उक्तिमें उन्होंने प्रकृतिको निमित्तकारण बतलाया है। तो फिर दो निमित्तकारण कैसे हुए? इसका उत्तर यह है कि चेतन पुरुषको स्वामी बनाकर, उसकी अध्यक्षतामें जब प्रकृति सृष्टिकी रचना करती है, तब वास्तवमें उसका रचयिता ईश्वर ही हुआ। प्रकृति तो द्वारमात्र है। अतएव वस्तुतः ईश्वर ही इस सृष्टिका निमित्तकारण है और चेतन-ईश्वरको निमित्तकारण माननेमें प्रायः सभी एकमत भी हैं। उपादानकारणमें कुछ मतभेद है परन्तु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि ज्ञान और भक्ति दोनों ही सिद्धान्तोंसे उपादानकारण भी ईश्वर ही है। ज्ञानके सिद्धान्तसे तो ऐसा समझना चाहिये कि जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने ही अंदर अपनी ही कल्पनासे आप ही संसार बन जाता है और आप ही उसे देखता है, वहाँ उस चेतन द्रष्टाके सिवा उस स्वप्न-जगत्का दूसरा कोई भी उपादानकारण

नहीं है। इसी प्रकार अज्ञानके कारण जहाँ गुणोंसहित प्रकृतिकी प्रतीति होती है, वहाँ वस्तुतः परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। परमात्मामें ही अपने कार्यसहित प्रकृति अध्यस्त है और भक्तिके सिद्धान्तसे ऐसा मानना चाहिये कि प्रकृति परमात्माकी शक्ति है और शक्ति कभी शक्तिमान्से भिन्न नहीं होती। यह दृश्य जो कुछ है, सब परमात्माकी शक्तिरूप प्रकृतिका ही विस्तार है, अतएव वस्तुतः यह परमात्माका ही स्वरूप है। अतएव परमात्मा ही इसका उपादानकारण है। गीतामें **'वासुदेवः सर्वमिति'**, **'मया ततमिदं सर्वम्'**, **'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति'**, **'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'** **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** आदिसे ईश्वरका अभिन्न निमित्तोपादानकारण होना स्पष्ट सिद्ध है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि ईश्वर कर्ता है तो उसमें कर्तृत्वभाव आ गया ! इसका उत्तर यह है कि ईश्वर वास्तवमें कर्ता नहीं, अकर्ता ही है—

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

(गीता ४। १३)

भगवान् कहते हैं कि 'उस चातुर्वर्ण्यके रचयिता होते हुए भी मुझ अविनाशीको तू अकर्ता ही समझ।'

पुरुषको ही आत्मा कहते हैं। पुरुषके सम्बन्धमें सांख्यदर्शनका मत है कि पुरुष नाना है और योगदर्शन भी पुरुषको नाना मानता है; परन्तु वह पुरुषविशेष ईश्वरको भी मानता है, इनमें जीव नाना हैं तथा पुरुषविशेष ईश्वर एक है। पूर्वमीमांसा भी पुरुषको नाना मानता है। वैशेषिक और न्याय पुरुषके दो भेद मानते हैं— जीवात्मा और परमात्मा। अद्वैतवादी पुरुषको नाना न मानकर 'एक' मानता है। सभी सिद्धान्तवालोंने (किसी भी रूपमें हो) आत्मा—पुरुषको चेतन ही माना है। यों पुरुषको एक या नाना मानना अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार सभीका ठीक है; क्योंकि सबका ध्येय आत्माके कल्याणमें है और आत्माके कल्याणकारक होनेके कारण सभीका कथन उचित है। एक माननेसे और नाना माननेसे दोनों ही प्रकारसे साधन

करनेपर आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर पुरुष मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेके उत्तरकालमें आत्माके स्वरूपको कोई किसी प्रकार भी बतला नहीं सकता; क्योंकि वह अनिर्वचनीय स्थिति है। अतएव यथार्थमें यह बात है कि जिसको उसकी प्राप्ति होती है, वही वस्तुतः इस बातको समझता है कि उसका स्वरूप कैसा है। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती; तबतक मनुष्यके लिये निम्नलिखित प्रकारसे मानकर चलना सुगम और उत्तम है।

पुरुषके विषयमें तो यों मानना चाहिये कि उसके दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा नाना हैं और परमात्मा एक है। परमात्मा एक है, परन्तु उसके भी दो भेद हैं—एक सगुण, दूसरा निर्गुण। सत्व, रज, तम तीनों गुणोंको उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिके सहित जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण है अर्थात् जो गुणसहित है, वह सगुण है और जो गुणोंसे रहित है वह निर्गुण है। यह याद रखना चाहिये कि सगुण और निर्गुण परमात्मा वस्तुतः दो नहीं है। दोनोंका एक समग्ररूप ही परमात्मा है। जैसे आकाशके किसी एक अंशमें वायु, तेज, जल, पृथ्वीके समुदाय हैं, उसको हम चारों भूतोंके सहित आकाश कह सकते हैं और जहाँ इन चारों भूतोंसे पृथक् केवल आकाश है, उसको हम केवल आकाश कह सकते हैं।

आकाश वायु आदिका आधार है, कारण है और उनमें सर्वत्र व्यापक भी है। इसी प्रकार परमात्मा चराचर समस्त भूतोंके आधार, कारण और उनमें व्यापक हैं। जरा इस विषयको फिरसे समझ लेना चाहिये। जैसे आकाशमें बादल है, उसकी उत्पत्ति आकाशसे हुई, वह आकाशमें ही स्थित है और आकाशमें ही विलीन हो जाता है। ऐसे ही वायु, तेज, जल और पृथ्वी आदिकी उत्पत्ति आकाशसे हुई, ये सब आकाशमें ही स्थित हैं और आकाशमें ही क्रमशः विलीन होते हैं। अतएव आकाशसे इनकी उत्पत्ति होनेके कारण आकाश ही इनका कारण है और ये आकाशके कार्य हैं। कार्य व्याप्य और कारण व्यापक होता है। इसलिये आकाश इनमें व्यापक है और इन सबकी स्थिति आकाशमें है, इसलिये आकाश ही इनका आधार है। इन

आकाशादि सब भूतोंकी प्रधान कारण प्रकृति होनेसे प्रकृति इनका कारण है, प्रकृति ही समस्त दृश्यवर्गमें व्यापक है और प्रकृतिके आधारपर ही ये सब स्थित हैं। प्रकृति परमात्माकी शक्ति है, अतएव वस्तुतः प्रकृतिके परम आधार होनेके कारण प्रकृतिसहित इस समस्त विश्वके परमात्मा ही महाकारण हैं, परमात्मा ही इसमें व्यापक हैं और परमात्मा ही इसके एकमात्र आधार हैं। अस्तु !

इस चराचर जगत्के सहित जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण है, इससे अतीत जहाँ चराचर संसार नहीं है, जो केवल है, वह गुणातीत है। सगुणके भी दो भेद हैं—साकार और निराकार। जैसे पृथ्वीके दो भेद हैं—गन्ध निराकार है और पुष्प साकार है। जिस तरह अग्नि अप्रकटरूपमें निराकार और प्रकटरूपमें साकार है, जैसे जल आकाशमें परमाणुरूपमें निराकार तथा बादल, बूँद और ओलेके रूपमें साकार है और वह निराकार जल ही साकाररूपसे प्रकट होता है। इसी प्रकार सर्वव्यापी सगुण परमात्मा निराकाररूपमें रहते हुए ही साकाररूपसे भी गुणोंके सहित संसारमें प्रकट होते हैं। जैसे तेज, जल, पृथ्वीके निराकार और साकाररूप दो-दो होनेपर भी वस्तुतः एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं है; इसी प्रकार परमात्माके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकाररूपमें कोई भेद नहीं है। सब मिलकर ही एक समग्ररूप हैं। इसी बातको **'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।'** आदिसे भगवान्ने (गीता ७। ३० में) कहा है। इसीका नाम समग्र ब्रह्म है। यही पुरुषोत्तम है। ऐसा जो प्रभुका स्वरूप है, वही उपासनीय है। यदि कोई पुरुष सगुणको छोड़कर केवल निर्गुणकी उपासना करता है तो वह भी उसी परमेश्वरकी उपासना करता है, सगुणमें भी जो निराकार या साकार किसी भी रूपकी उपासना करता है तो वह भी परमात्माकी ही उपासना करता है और ऐसी उपासना करनेवाले सभी उपासक अन्तमें उसी परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं; किन्तु इस ब्रह्मके समग्ररूपको अच्छी प्रकार समझकर जो उपासना करता है, वह सर्वोत्तम है; क्योंकि उसको परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे और अति शीघ्र हो जाती है। यदि कहा जाय कि फिर

जीवात्मा और परमात्मामें क्या भेद है ? तो इसका उत्तर यह है कि जीवात्मा उपासक है और परमात्मा उपास्य है। परमात्मा राग-द्वेषादि अवगुण, पुण्य-पापादि कर्म और हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वदा और सर्वथा रहित है और जीवमें अज्ञानके कारण इन सबका सम्बन्ध है। प्रभुकी कृपासे प्रभुके तत्त्वका ज्ञान होकर इन सबका सम्बन्ध छूट सकता है। अज्ञानके कारण ही ये सब हैं और इनका अभाव प्रभुके तत्त्वज्ञानसे होता है। प्रभुके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधनोंके द्वारा होता है।

यदि कहो कि परमात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञान होनेके उत्तरकालमें भेद रहता है या अभेद ? तो इसका उत्तर यह है कि साधक जिस प्रकार समझता है, वैसी ही उसको प्रतीति होती है। यदि कहो कि जबतक प्रतीति होती है, तबतक तो वह उसकी धारणा ही है। इन दोनोंका जो फल है, जिसको परमतत्त्वकी प्राप्ति—परमात्माकी प्राप्ति कहा जाता है, जिसको वेद अनिर्वचनीय स्थिति बतलाते हैं, उस स्थितिके बादकी बात हम पूछते हैं तो इसका उत्तर यह है कि जिस स्थितिको वेदोंने ही अनिर्वचनीय बतलाया है, उसको फिर दूसरा कौन कैसे बतला सकता है ? अतः यही समझना चाहिये कि वह स्थिति बतलायी नहीं जा सकती। यदि कहा जाय कि जब वह स्थिति बतलायी नहीं जा सकती, तब उस स्थितिके अस्तित्वमें ही क्या प्रमाण है ? तो इसके उत्तरमें यह कहना होगा कि उसके लिये प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वतः प्रमाण है। सबसे बढ़कर बात उसके लिये यह है कि उसीसे समस्त प्रमाणोंकी और सबके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। वेद, शास्त्र और महात्माओंका अनुभव उसको प्रत्यक्ष बतलाता है। सब वेदोंका प्रधान लक्ष्य उसीकी प्राप्तिके लिये है, वही अनिर्वचनीय वस्तु है।

वह पुरुष है और उसकी शक्ति प्रकृति है। तीनों गुण उस प्रकृतिके कार्य हैं। वेदान्त और सांख्यने प्रकृतिको तीनों गुणोंकी साम्यावस्था माना है, तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको ही उसका स्वरूप माना है। किन्तु भगवान्‌ने गीतामें गुणोंको प्रकृतिका कार्य बतलाया है। जैसे—

****

'प्रकृतिजैर्गुणैः' (३।५)

'गुणान् विद्धि प्रकृतिसम्भवान्' (१३।१९)

'प्रकृतिजान् गुणान्' (१३।२१)

'गुणाः प्रकृतिसंभवाः' (१४।५)

'प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः' (१८।४०)

'वेदान्तशास्त्र' प्रकृतिको अनादि और सान्त मानता है; सांख्य और योगशास्त्र प्रकृतिको अनादि और नित्य मानते हैं। भगवान्‌ने गीतामें प्रकृतिको अनादि तो बतलाया है, परन्तु नित्य नहीं बतलाया। नित्य वस्तु तो एक सनातन चेतन अव्यक्तको ही बतलाया है—(८।२०)। भगवान्‌ने प्रकृतिके लिये सान्त और अनित्य भी नहीं कहा। इसलिये इसको अनिर्वचनीय ही मानना चाहिये। भगवान्‌ने प्रकृतिको प्रथम तो नित्य इसलिये नहीं बतलाया कि नित्य वस्तु तो एक अनादि, सनातन, अव्यक्त परमात्मा ही है। दूसरे, प्रकृतिको नित्य बतलानेसे ज्ञानमार्गकी सिद्धि ही नहीं होती। इसी प्रकार भगवान्‌ने प्रकृतिको अनित्य भी प्रथम तो इसलिये नहीं बतलाया कि महाप्रलयके समय समस्त दृश्यवर्गके प्रकृतिमें विलीन होनेपर भी प्रकृति रहती है और महासर्गके आदिमें उसी प्रकृतिसे परमात्माके सकाशद्वारा पुनः दृश्यकी उत्पत्ति होती है, जिससे उसका नित्य-सा प्रतीत होना सिद्ध है। और दूसरे यदि प्रकृतिको अनादि और सान्त (या अनित्य) बतला दिया जाता तो भक्तिमार्गका महत्त्व ही क्या रह जाता? अतः भगवान्‌को दोनों ही मार्ग अभिप्रेत हैं और इसीलिये उन्होंने प्रकृतिको न तो स्पष्ट शब्दोंमें नित्य कहा और न अनित्य ही।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकृति अनिर्वचनीय है। परमात्माके तत्त्वका ज्ञान होनेके बाद तो योग और सांख्यशास्त्रके अनुसार भी चेतन जीवात्माके साथ प्रकृतिके सम्बन्धका अत्यन्त विच्छेद हो जाता है। अस्तु, सभी सिद्धान्तोंके अनुसार आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेके उपरान्त 'केवल' अवस्था हो जाती है। यानी फिर कार्यसहित इस प्रकृतिके साथ कुछ भी

सम्बन्ध नहीं रहता। वेदान्तशास्त्र कहता है कि एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। सांख्य और योगशास्त्र कहते हैं कि आत्मज्ञानके उत्तरकालमें भी प्रकृति है तो सही, पर जिसको आत्माका साक्षात्कार हो गया है, उसका प्रकृतिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वस्तुतः परिणाममें एक ही बात हुई। साक्षात्कार होनेके बाद प्रकृतिसे सम्बन्ध कोई नहीं मानते और जब सम्बन्ध ही नहीं, तब वह रहे भी तो कोई आपत्ति नहीं और न रहे तो भी कोई आपत्ति नहीं। स्वप्नसे जागनेके बाद स्वप्नके संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, फिर चाहे वह स्वप्नका संसार कहीं रहे भी तो क्या आपत्ति है ?

इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक संसारकी प्रतीति है और इसके साथ सम्बन्ध है, तबतक चेतन और जड या द्रष्टा और दृश्य अथवा ज्ञाता और ज्ञेय नामक पुरुष और प्रकृति दो पदार्थ हैं और इन्हींसे सबका विस्तार है; किन्तु जब संसारकी प्रतीति नहीं होती, संसारसे सदाके लिये सम्बन्धविच्छेद हो जाता है, तब परमात्माकी प्राप्ति होती है। उसके उत्तरकालकी अवस्थाका वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। अतएव यथार्थमें यह बात है कि जिसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, वही पुरुष उस बातको यथार्थ समझता है। इसलिये हमलोगोंको परमात्माकी प्राप्तिके लिये जी-तोड़ प्रयत्न करना चाहिये।

★

मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है ?

प्रत्येक मनुष्यको विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ' और 'मेरा क्या कर्तव्य है ?' मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन या बुद्धि हूँ या इनसे कोई भिन्न वस्तु हूँ ? विचारपूर्वक निर्णय करनेसे यही बात ठहरती है कि मैं नाम नहीं हूँ, मुझे आज जयदयाल कहते हैं, परंतु जब प्रसव हुआ था, उस समय इसका नाम जयदयाल नहीं था। यद्यपि मैं मौजूद था, घरवालोंने कुछ दिन बाद नामकरण किया। उन्होंने उस समय जयदयाल नाम न रखकर महादयाल रखा

होता तो आज मैं महादयाल कहलाता और अपनेको महादयाल ही समझता। मैं न पूर्वजन्ममें जयदयाल था, न गर्भमें जयदयाल था और न शरीर-नाशके बाद जयदयाल रहूँगा। यह तो केवल घरवालोंका निर्देश किया हुआ सांकेतिक नाम है। यह नाम एक ऐसा कल्पित है कि जो चाहे जब बदला जा सकता है और उसीमें उसका अभिमान हो जाता है। जो विवेकवान् पुरुष इस रहस्यको समझ लेता है कि मैं नाम नहीं हूँ, वह नामकी निन्दा-स्तुतिसे कदापि सुखी-दुःखी नहीं होता। जब मनुष्य 'नाम'की निन्दा-स्तुतिमें सम नहीं है, निन्दा-स्तुतिमें सुखी-दुःखी होता है, तब वह नाम न होनेपर भी 'नाम' बना बैठा है, जो सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो इस रहस्यको जान लेता है, उसमें इस भ्रमकी गन्धमात्र भी नहीं रहती। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके लक्षणोंको बतलाते हुए उन्हें निन्दा और स्तुतिमें सम बतलाया है—

'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' (गीता १२।१९)

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' (गीता १४।२४)

फिर यह प्रसिद्ध भी है कि जयदयाल 'मेरा' 'नाम' है, 'मैं' जयदयाल नहीं हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ नाम 'मैं' नहीं हूँ।

इसी प्रकार रूप—देह भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि देह जड है और मैं चेतन हूँ। देह क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाशधर्मवाला है, मैं इससे सर्वथा रहित हूँ। बालकपनमें देहका और ही स्वरूप था, युवापनमें दूसरा था और अब कुछ और ही है; किंतु मैं तीनों अवस्थाओंको जाननेवाला तीनोंमें एक ही हूँ। किसी पुरुषने मुझको बाल्यावस्थामें देखा था, अब वह मुझसे मिलता है तो मुझे पहचान नहीं सकता। देहका रूप बदल गया। शरीर बढ़ गया, मूँछें आ गयीं। इससे वह नहीं पहचानता। किंतु मैं पहचानता हूँ, मैं उससे कहता हूँ, आपका शरीर युवावस्थासे वृद्ध होनेके कारण उसमें कम अन्तर पड़ा है, इससे मैं आपको पहचानता हूँ। मैंने आपको अमुक जगह देखा था। उस समय मैं बालक था, अब मेरे शरीरमें बहुत परिवर्तन हो गया, अतः आप मुझे नहीं पहचान सके। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर 'मैं

नहीं हूँ।' किंतु 'शरीर मैं हूँ' ऐसा अभिमान भी पूर्वोक्त नामके समान ही सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो पुरुष इस रहस्यको जानते हैं, वे शरीरके मानापमान और सुख-दुःखमें सर्वथा सम रहते हैं; क्योंकि वे इस बातको समझ जाते हैं कि मैं शरीरसे सर्वथा पृथक् हूँ। इसीलिये तत्त्ववेत्ताओंके लक्षणोंमें भगवान् कहते हैं—

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।'

(गीता १२। १८)

'मानापमानयोस्तुल्यः' (गीता १४। २५)

'समदुःखसुखः स्वस्थः' (गीता १४। २४)

अतएव विचार करनेसे यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि यह जड शरीर मैं नहीं हूँ, मैं इस शरीरका ज्ञाता हूँ; और प्रसिद्ध भी यही है कि शरीर 'मेरा' है। मनुष्य भ्रमसे ही शरीरमें आत्माभिमान करके इसके मानापमान और सुख-दुःखसे सुखी-दुःखी होता है।

इसी तरह इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ। हाथ-पैरोंके कट जाने, आँखें नष्ट हो जाने और कानोंके बहरे हो जानेपर भी मैं ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् रहता हूँ, मरता नहीं। यदि मैं इन्द्रिय होता तो उनके विनाशमें मेरा विनाश होना सम्भव था। अतएव थोड़ा-सा भी विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि मैं जड इन्द्रिय नहीं हूँ, वरं इन्द्रियोंका द्रष्टा या ज्ञाता हूँ।

इसी प्रकार मैं मन भी नहीं हूँ। सुषुप्तिकालमें मन नहीं रहता, परंतु मैं रहता हूँ। इसीलिये जागनेके बाद मुझको इस बातका ज्ञान है कि मैं सुखसे सोया था। मैं मनका ज्ञाता हूँ। दूसरोंकी दृष्टिमें भी मनके अनुपस्थितिकालमें (सुषुप्ति या मूर्च्छित-अवस्थामें) मेरी जीवित सत्ता प्रसिद्ध है। मन विकारी है, इसमें भाँति-भाँतिके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। मनमें होनेवाले इन सभी संकल्प-विकल्पोंका मैं ज्ञाता हूँ। खान, पान, स्नान आदि करते समय यदि मन दूसरी ओर चला जाता है तो उन कामोंमें कुछ भूल हो जाती है; फिर सचेत होनेपर मैं कहता हूँ; मेरा मन दूसरी जगह चला गया था, इस

कारण मुझसे भूल हो गयी; क्योंकि मनके बिना केवल शरीर और इन्द्रियोंसे सावधानीपूर्वक काम नहीं हो सकता। अतएव मन चञ्चल और चल है, परन्तु मैं स्थिर और अचल हूँ। मन कहीं भी रहे, कुछ भी संकल्प-विकल्प करता रहे, मैं उसको जानता हूँ, अतएव मैं मनका ज्ञाता हूँ, मन नहीं हूँ।

इसी तरह मैं बुद्धि भी नहीं हूँ; क्योंकि बुद्धि भी क्षय और वृद्धि-स्वभाववाली है। मैं क्षय-वृद्धिसे सर्वथा रहित हूँ। बुद्धिमें मन्दता, तीव्रता, पवित्रता, मलिनता, स्थिरता, अस्थिरता आदि भी विकार होते हैं; परंतु मैं इन सबसे रहित और इन सब स्थितियोंको जाननेवाला हूँ। मैं कहता हूँ, उस समय मेरी बुद्धि ठीक नहीं थी, अब ठीक है। बुद्धि कब क्या विचार रही है, क्या निर्णय कर रही है और क्या निश्चय कर रही है, इसको मैं जानता हूँ। बुद्धि दृश्य है, मैं उसका द्रष्टा हूँ। अतएव बुद्धिका मुझसे पृथक्त्व सिद्ध है; मैं बुद्धि नहीं हूँ।

इस प्रकार मैं नाम, रूप, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति नहीं हूँ। मैं इन सबसे सर्वथा अतीत, इनसे सर्वथा पृथक्, चेतन, द्रष्टा, साक्षी, सबका ज्ञाता, सत्, नित्य, अविनाशी, अविकारी, अक्रिय, सनातन, अचल और समस्त सुख-दुःखोंसे रहित केवल शुद्ध आनन्दमय आत्मा हूँ। यही मैं हूँ। यही मेरा सच्चा स्वरूप है। क्लेश*, कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे विमुक्त होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति हुई है। इस परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है। मनुष्य-शरीरके बिना अन्य किसी भी देहमें इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस स्थितिकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे होती है और वह तत्त्वज्ञान विवेक, वैराग्य, ईश्वरभक्ति, विचार, सदाचार और सद्गुण आदिके सेवनसे होता है और इन सबका होना इस घोर कलिकालमें ईश्वरकी दया बिना सम्भव नहीं। यद्यपि ईश्वरकी दया सम्पूर्ण

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योग० २।३) अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि, राग, द्वेष और मरणभय—ये पाँच क्लेश हैं।

जीवोंपर पूर्णरूपसे सदा-सर्वदा है, किंतु बिना उनकी शरण हुए उस दयाके रहस्यको मनुष्य समझ नहीं सकता। एवं दयाके तत्त्वको समझे बिना उस दयाके द्वारा होनेवाले लाभको वह प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर उनकी दयाके रहस्यको समझकर उससे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। ईश्वरकी शरणसे ही हमें परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमपदकी प्राप्ति हो सकती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्ति और सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

जब यह मनुष्य परमेश्वरके शरण* होकर परमेश्वरके तत्त्वको जान जाता है, तब उस परमेश्वरकी कृपासे अज्ञानका नाश होकर वह परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है, जैसे निद्राके नाशसे मनुष्य जाग्रत्‌को, दर्पणके नाशसे प्रतिबिम्ब बिम्बको तथा घटके फूटनेसे घटाकाश महाकाशको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानके नाशसे यह जीवात्मा विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब यह साधक नाम, रूप, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको सर्वथा पृथक् समझ लेता है, तब यह ईश्वरकी शरण और कृपासे देहादि सम्बन्धसे होनेवाले समस्त क्लेशों और पापोंसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है, एवं विज्ञानानन्दघन परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण सदाके लिये उस विज्ञानानन्दघन प्रभुको प्राप्त हो जाता है। प्रभुको प्राप्त करनेके लिये अनन्यभावसे इस प्रकार प्रयत्न करना और प्रभुको प्राप्त हो जाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है।

———★———

* शरणका सार अर्थ है श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे प्रभुकी आज्ञाका पालन करना, गुण और प्रभावसहित उसके स्वरूपका चिन्तन करना एवं हमारे कर्मोंके अनुसार परमेश्वरकृत सुख-दुःखादि मङ्गलमय विधानमें सर्वथा समचित्त रहना।

१-मुक्तिका कारण आत्मज्ञान है और उस आत्मसाक्षात्कारके लिये निष्काम कर्मयोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोगादि प्रत्येक देश-कालमें सुसाध्य उपाय वेद-शास्त्रोंमें बतलाये गये।

कोई खास युग, देश, वर्ण या आश्रममात्र ही मुक्तिका कारण नहीं माना गया है। साधनसम्पन्न होनेपर प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्ण-आश्रममें मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। गीताके उपर्युक्त श्लोकसे भी यही निर्णीत है। मुक्तिके लिये श्रुति-स्मृतियोंमें कहीं भी कलियुग, भारतभूमि या किसी वर्णाश्रमका निषेध नहीं किया गया है। आजतकके संत-महात्माओंके जीवन-चरित्रोंसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक देश, काल, वर्ण और आश्रममें साधन करनेपर मुक्ति हो सकती है। विष्णुपुराणमें एक प्रसङ्ग है—

'ऐसा कौन-सा समय है कि जिसमें धर्मका थोड़ा-सा अनुष्ठान भी महत् फल देता हो?' इस विषयपर एक बार ऋषियोंमें बड़ी बहस हुई, अन्तमें वे सब मिलकर इस प्रश्नका निर्णयात्मक उत्तर पानेके लिये भगवान् वेदव्यासके पास गये। व्यासजी महाराज उस समय भगवती भागीरथीमें स्नान कर रहे थे, ऋषिगण उनकी प्रतीक्षामें जाह्नवीके तटपर वृक्षोंकी छायामें बैठ गये। थोड़ी देरके बाद व्यासजीने बाहर निकलकर मुनियोंको सुनाते हुए क्रमशः ऐसा कहा—'कलियुग ही साधु है' 'हे शूद्र! तुम्हीं साधु हो, तुम्हीं धन्य हो!' 'हे स्त्रियो! तुम धन्य हो, तुमसे अधिक धन्य और कौन है?' इससे मुनियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कौतूहलसे व्यासजीसे इन वचनोंका मर्म पूछा। व्यासदेवने कहा कि यही तुम्हारे विवादग्रस्त प्रश्नका उत्तर है। इन तीनोंमें मनुष्य अल्पायाससे ही परमगति पा सकता है। दूसरे युगोंमें, दूसरे वर्णोंमें और पुरुषोंमें तो बड़े साधनसे कहीं कुछ होता है, परन्तु—

स्वल्पेनैव प्रयत्नेन धर्मः सिद्ध्यति वै कलौ।
नरैरात्मगुणाम्भोभिः क्षालिताखिलकिल्बिषैः॥
शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषातत्परैर्मुनिसत्तमाः।
तथा स्त्रीभिरनायासं पतिशुश्रूषयैव हि॥

ततस्त्रितयमप्येतन्मम धन्यतमं मतम्।

(विष्णुपुराण ६।२।३४—३६)

'हे मुनिगण! कलियुगमें मनुष्य सद्वृत्तिका अवलम्बन करके थोड़े-से प्रयाससे ही सारे पापोंसे छूटकर धर्मकी सिद्धि पाता है। शूद्र द्विजसेवासे और स्त्रियाँ केवल पतिसेवासे अल्पायाससे ही उत्तम गति पा सकती हैं। इसीलिये मैंने इन तीनोंको धन्यतम कहा है।' इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान देश-कालमें और स्त्री, शूद्रोंके लिये तो मुक्तिका पथ और भी सुगम है।

थोड़ी देरके लिये यदि यह भी मान लें कि वर्तमान देश-कालमें और प्रत्येक वर्णाश्रममें मुक्ति नहीं होती, लोग भूलसे ही उत्साहपूर्वक मुक्तिके लिये साधनमें लगे हुए हैं तथापि यह तो नहीं माना जा सकता कि इस भूलसे वे कोई अपना नुकसान कर रहे हैं। मुक्ति न सही, परन्तु साधनका कुछ-न-कुछ तो उत्तम फल अवश्य ही होगा। सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी, अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और दैवी सम्पत्तिके गुणोंका विकास होगा। जब मुक्ति होती ही नहीं, तब वह तो साधक और असाधक दोनोंकी ही नहीं होगी, परन्तु साधकमें साधनसे सद्गुणोंकी वृद्धि होगी और साधनहीन मनुष्य कोरा-का-कोरा ही रह जायगा। इसके अतिरिक्त यदि वर्तमान देश-कालमें प्रत्येक मनुष्यकी मुक्ति होती होगी तो साधककी तो हो ही जायगी, परन्तु साधन न करनेवाला सर्वथा वञ्चित रह जायगा। जब वह साधनमें प्रवृत्त ही नहीं होगा, तब मुक्ति कैसी? अतएव वह बेचारा भ्रमसे इस परम लाभसे वञ्चित रहकर बारम्बार संसारके आवागमनचक्रमें घूमता रहेगा। अतएव इस युक्तिसे भी प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्णाश्रममें मुक्तिका सुगम मानना ही उचित, श्रेयस्कर और तर्कसिद्ध है।

२-श्रुति, स्मृति और उपनिषदादि सद्ग्रन्थोंमें कहींपर भी मुक्त पुरुषोंके पुनरागमन-सम्बन्धी प्रमाण नहीं मिलते। पुनरागमन उन्हींका होता है जो सकामी पुण्यात्मा पुरुष अपने पुण्यबलसे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

(गीता ९ । २०-२१)

मुक्त पुरुषके सम्बन्धमें तो श्रुति-स्मृतियोंमें स्थान-स्थानपर उनके पुनः संसारमें न आनेके ही प्रमाण मिलते हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥(८ । १६)

'हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, परन्तु हे कौन्तेय ! मुझको प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'

(छान्दोग्य० ८ । १५ । १)

'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छान्दोग्य० ४ । १५ । ६)
'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' (बृह० ६ । २ । १५)

—आदि श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इन शास्त्र-वचनोंसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मुक्त जीवोंका पुनरागमन कभी नहीं होता । जीवन्मुक्तोंके द्वारा लोकदृष्टिमें यथायोग्य सभी कार्य होते हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तवमें उनका उन कार्योंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(गीता ४ । १९)

****

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

इसके सिवा उस मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें एक विशुद्ध विज्ञान-आनन्दघन परमात्म-तत्त्वके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जाता—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

वह समझता है कि सभी कुछ केवल वासुदेव ही है। इसीलिये उसे मुक्त कहते हैं। ऐसे पुरुषका किसी कालमें भी इस मायामय संसारसे पुनः सम्बन्ध नहीं होता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें संसारका सदाके लिये आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। इस अवस्थामें उसका पुनरागमन क्योंकर हो सकता है?

यदि कोई यह कुतर्क करे कि यदि मुक्त जीवोंका पुनरागमन नहीं होगा तो मुक्त होते-होते एक दिन जगत्‌के सभी जीव मुक्त हो जायँगे, तब तो सृष्टिकी सत्ता ही मिट जायगी। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो ऐसा होना सम्भव नहीं; क्योंकि—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई मनुष्य मोक्षके लिये यत्न करता है, उन यत्न करनेवाले योगियोंमेंसे कोई पुरुष मुझको (परमात्माको) तत्त्वसे जानता है।' इस अवस्थामें सभी जीवोंका मुक्त होना असम्भव है; क्योंकि जीव असंख्य हैं। तथापि यदि किसी दिन 'सम्पूर्ण संसारके सभी जीव किसी तरह मुक्त हो जायँ' तो इसमें हानि ही कौन-सी है? आजतक अनेक श्रेष्ठ पुरुष इससे पूर्व ऐसी चेष्टा कर चुके हैं, महात्मागण अब भी कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। यदि किसी दिन उनका परिश्रम सफल हो जाय और अखिल जगत्‌के जीवोंका उद्धार

****

हो जाय तो बहुत ही अच्छी बात है, इससे सिद्धान्तमें कौन-सी बाधा आती है ?

तर्कके लिये मान लिया जाय कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म न माननेवाले भूल करते हैं, पर इस भूलसे उनकी हानि क्या होती है ? इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरागमन माननेवाला भी वापस आयेगा और न माननेवाला भी। फल दोनोंका एक ही है। परन्तु कदाचित् यही सिद्धान्त सत्य हो कि 'मुक्त पुरुषका पुनरागमन नहीं होता' तब तो भूलसे पुनरागमन माननेवालेकी बड़ी हानि होगी; क्योंकि उस पुनरागमन माननेवालेको तो वह मुक्ति ही नहीं मिलेगी कि जिसमें पुनरागमन न होता हो। वह बेचारा भूलसे ही इस परम लाभसे वञ्चित रह जायगा और पुनरागमन न माननेवाला मुक्त हो जायगा। इस न्यायसे भी पुनरागमन न मानना ही युक्तियुक्त लाभजनक और सर्वोत्तम सिद्ध होता है।

३—श्रुति-स्मृति और उपनिषदादि किसी भी प्रामाणिक सद्ग्रन्थोंसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काम-क्रोधादि विकारोंके रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें काम, क्रोध और लोभको नरकका त्रिविध द्वार बतलाया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(१६।२१)

श्रीगीतामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रश्नोत्तरसे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि समस्त पापोंका बीज 'काम' है और उसको आत्मज्ञानके द्वारा नष्ट करके ही साधक मुक्त हो सकता है। तीसरे अध्यायके ३६वें श्लोकसे ४३वें श्लोकपर्यन्त इसका विस्तारसे वर्णन है। जहाँतक काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकारोंसे ही मनुष्यका छुटकारा नहीं होगा, वहाँतक उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? मुक्त पुरुषका वास्तवमें संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। गीताजीमें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

****

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(३।१७-१८)

उसका अन्तःकरण मल-विक्षेप और आवरणसे सर्वदा रहित होकर शुद्ध हो जाता है, ऐसी स्थितिमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकार उसमें कैसे रह सकते हैं ? भगवान्ने कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(गीता ५।२५-२६)

'**हर्षशोकौ जहाति**', '**तरति शोकमात्मवित्**' आदि श्रुतियाँ भी इसके प्रमाणमें प्रसिद्ध हैं। शास्त्रोंमें जहाँ देखिये वहाँ एकस्वरसे यही प्रमाण मिलता है। श्रीपरमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जब समस्त विकारोंकी जड़ आसक्तिका ही अत्यन्त अभाव हो जाता है तब उसके कार्यरूप अन्य विकार तो कैसे रह सकते हैं ? इन शास्त्रवचनोंसे यही सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्तके शुद्ध अन्तःकरणमें विकारोंका अस्तित्व मानना कदापि उचित नहीं है।

यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि जीवन्मुक्तिके बाद भी काम-क्रोधादि विकारोंका लेश शेष रह जाता है और जो लोग उसका शेष रहना नहीं मानते, वे भूलसे ही काम-क्रोधादि विकारोंको जड़से उखाड़नेकी धुनमें लगे रहते हैं, इसपर यह सोचना चाहिये कि क्या इस भूलसे उनका कोई नुकसान होता है ? यदि पक्षपात छोड़कर विचार किया जाय तो पता लगता है कि काम-क्रोधादि विकारोंके नाशका उपाय न करनेवालोंकी अपेक्षा उपाय करनेवाले अधिक बुद्धिमान् हैं; क्योंकि उपाय करनेसे उनके विकार अधिक नष्ट होंगे और इससे वे कम-से-कम जीवन्मुक्तोंमें तो उत्तम ही माने जायँगे। एक मनुष्य अत्यन्त क्रोधी तथा कामी है और दूसरा इन दोनोंसे छूटा हुआ है और

****

इस सिद्धान्तके अनुसार वे दोनों ही जीवन्मुक्त हैं। इस दशामें यह तो स्वाभाविक है कि इनमें काम-क्रोधपरायण मनुष्यकी अपेक्षा काम-क्रोधरहित जीवन्मुक्त ही अधिक सम्माननीय होगा। इस दृष्टिसे भी काम-क्रोधादि विकारोंका नाश करना ही उचित सिद्ध होता है और यदि कहीं यही बात सत्य हो कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें कोई विकार शेष नहीं रहता तब तो विकारोंका शेष रहना माननेवालेकी केवल मुक्ति नहीं होगी सो ही बात नहीं, परन्तु उसकी और भी बड़ी हानि होगी; क्योंकि वह मिथ्या ज्ञानसे (गीता १८।२२के अनुसार) ही अपनेको ज्ञानी और मुक्त मानकर अपने चरित्र-सुधारके पवित्र कार्यसे भी वञ्चित रह जायगा और काम-क्रोधादि विकारोंके मोहमय जालोंमें फँसकर अनेक प्रकारकी नरक-यन्त्रणा भोगता हुआ (गीता अध्याय १६के श्लोक १६ से २१ के अनुसार) लगातार संसार-चक्रमें भटकता फिरेगा। इसलिये यही सिद्धान्त सर्वोपरि मानना चाहिये कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि कोई भी विकार शेष नहीं रह जाते।

इसके सिवा मुक्तिके सम्बन्धमें लोग और भी अनेक प्रकारकी शंकाएँ किया करते हैं, पर लेख बढ़ जानेके कारण उन सबपर विचार नहीं किया गया।

इस लेखसे पाठक समझ गये होंगे कि मुक्त पुरुष तीनों गुणोंसे सर्वथा अतीत होता है (गीता अ० १४ के २२वेंसे २५वें श्लोकतक इसका वर्णन है), इसीसे उसके अन्तःकरणमें कोई विकार या कोई भी कर्म शेष नहीं रहता और इसीलिये उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता। पुनर्जन्मका हेतु गुणोंका सङ्ग ही है। भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३।२१)

पाठक यह भी समझ गये होंगे कि वर्तमान देश-कालमें मुक्त होना कोई असम्भव बात नहीं है, अतएव अब शीघ्र सावधान होकर कर्तव्यमें

लग जाना चाहिये। आलस्यमें अबतक बहुत समय नष्ट हो चुका। अब तो सचेत होना चाहिये। मनुष्य-जीवनके एक भी अमूल्य क्षणको व्यर्थमें गँवाना उचित नहीं। गया हुआ समय किसी भी उपायसे वापस नहीं मिल सकता। अतएव यथासाध्य शीघ्र ही सत्सङ्गके द्वारा अपने कल्याणका मार्ग समझकर उसपर आरूढ़ हो जाना चाहिये।

—यही कल्याणका तत्त्व है!

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठ० १।३।१४)

★

ज्ञानकी दुर्लभता

किसी श्रद्धालु पुरुषके सामने भी वास्तविक दृष्टिसे महापुरुषोंके द्वारा यह कहना नहीं बन पड़ता कि 'हमको ज्ञान प्राप्त है'; क्योंकि इन शब्दोंसे उनके ज्ञानमें दोष आता है। वास्तवमें पूर्ण श्रद्धालुके लिये तो महापुरुषसे ऐसा प्रश्न ही नहीं बनता कि 'आप ज्ञानी हैं या नहीं?' जहाँ ऐसा प्रश्न किया जाता है वहाँ श्रद्धामें त्रुटि ही समझनी चाहिये और महापुरुषसे इस प्रकारका प्रश्न करनेमें प्रश्नकर्ताकी कुछ हानि ही होती है। यदि महापुरुष यों कह दे कि मैं ज्ञानी नहीं हूँ तो भी श्रद्धा घट जाती है और यदि वह यह कह दे कि मैं ज्ञानी हूँ तो भी उसके मुँहसे ऐसे शब्द सुनकर श्रद्धा कम हो जाती है। वास्तवमें तो मैं अज्ञानी हूँ या ज्ञानी—इन दोनोंमेंसे कोई-सी बात कहना भी महापुरुषके लिये नहीं बन पड़ता, यदि वह अपनेको अज्ञानी कहे तो मिथ्यापनका दोष आता है और ज्ञानी कहे तो नानात्वका। इसलिये वह यह भी नहीं कहता कि मैं ब्रह्मको जानता हूँ, और यह भी नहीं कहता कि मैं नहीं जानता। वह ब्रह्मको जानता है, ऐसा भी उससे कहना नहीं बनता। परन्तु वह नहीं जानता हो, ऐसी बात भी नहीं है। श्रुति कहती है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

(केन० २। २-३)

इसीलिये इसका नाम अनिर्वचनीय स्थिति है; इसीलिये वेदमें दोनों प्रकारके शब्द आते हैं और इसीलिये महापुरुष यह नहीं कहते कि मुझे प्राप्ति हो गयी। इस सम्बन्धमें वे स्वयं अपनी ओरसे कुछ भी न कहकर वेद-शास्त्रोंकी ओर संकेत कर देते हैं। परंतु ऐसा भी नहीं कहते कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई। ऐसा कहना तो उत्तम आचरण करनेवाले आचार्य या नेता पुरुषोंके लिये भी योग्य नहीं; क्योंकि इससे उनके अनुयायियोंका ब्रह्मकी प्राप्तिको अत्यन्त कठिन मानकर निराश होना सम्भव है। जैसे यदि आज कोई परम सम्माननीय पुरुष कह दे कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई है, मैं तो स्वयं प्राप्तिके लिये उत्सुक हूँ तो ऐसा कहनेसे उनके अनुयायीगण या तो यह समझ बैठते हैं कि जब इनको ही प्राप्ति न हुई तब हमको क्योंकर होगी या यों समझ लेते हैं कि इतने अंशमें सम्माननीय पुरुषके शब्द या तो अयथार्थ हैं या असली स्थितिको छिपानेवाले हैं और इस प्रकारके दोषारोपसे उन लोगोंकी श्रद्धामें कुछ कमी होना सम्भव है। अतएव इस विषयमें मौन ही रहना चाहिये। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि महापुरुषके लिये ज्ञानी या अज्ञानी किसी भी शब्दका प्रयोग उसके अपने मुखसे नहीं बनता। इतना होनेपर भी महापुरुष यदि अज्ञानी साधकको समझानेके लिये उसे ज्ञानोपदेश करते समय उसीकी भावनाके अनुसार अपनेमें ज्ञानीकी कल्पना कर अपनेको ज्ञानी शब्दसे सम्बोधित कर दे तो भी कोई हानि नहीं, वास्तवमें उसका यों कहना भी उस साधककी दृष्टिमें ही है और ऐसा कहना भी उसी साधकके सामने सम्भव है जो पूर्ण श्रद्धालु और परम विश्वासी हो, जो महापुरुषके शब्दोंको सुनते ही स्वयं वैसा बनता जाय और जिस स्थितिका

वर्णन महापुरुष करते हों, उसी स्थितिमें स्थित हो जाय। इसपर ऐसा कहा जा सकता है कि श्रद्धा और विश्वास तो पूर्ण है, परन्तु वैसी स्थिति नहीं होती, इसके लिये वह बेचारा श्रद्धालु साधक क्या करे? यह ठीक है, परन्तु साधकके लिये इतना तो परमावश्यक है कि वह श्रवणके अनुसार ही एक ब्रह्ममें विश्वासी होकर उसीकी प्राप्तिके लिये पूरी तरहसे तत्पर हो जाय, जबतक उसे प्राप्ति न हो तबतक वह उसके लिये परम व्याकुल रहे। जैसे किसी मनुष्यको एक जानकारके द्वारा उसके घरमें गड़ा हुआ धन मालूम हो जानेपर वह उसे खोदकर निकालनेके लिये व्याकुल होता है, यदि उस समय उसके पास बाहरके आदमी बैठे हुए हों तो वह सच्चे मनसे यही चाहता है कि कब ये लोग हटें, कब मैं अकेला रहूँ और कब उस गड़े हुए धनको निकालकर हस्तगत कर सकूँ। इसी प्रकार जो साधक यह समझता है कि मेरे साधनमें बाधा देनेवाले आसक्ति और अज्ञान आदि दोष कब दूर हों और कब मैं अपने परमधन परमात्माको प्राप्त करूँ। जितनी ही देर होती है, उतनी ही उसकी व्याकुलता और उत्कण्ठा उत्तरोत्तर प्रबल होती चली जाती है और वह उस विलम्बको सहन नहीं कर सकता। यदि इस प्रकारके साधकके सामने महापुरुष स्पष्ट शब्दोंमें भी अपनेको ज्ञानी स्वीकार कर ले तो भी कोई हानि नहीं, परंतु इससे नीची श्रेणीके साधक और अपूर्ण प्रेमियोंके सामने यों कहनेसे उस महापुरुषकी तो कोई हानि नहीं होती, परन्तु अनधिकारी होनेके कारण उन सुननेवालेके पारमार्थिक विषयमें हानि होना सम्भव है। यदि यह बात सभीको स्पष्ट कहनेकी होती तो शास्त्रोंमें इसे परम गोपनीय न कहा जाता और केवल अधिकारीको ही कहनी चाहिये ऐसी विधि न होती।

कोई यह कहे कि महापुरुषकी परीक्षा कैसे की जाय और यदि बिना परीक्षाके ही किसी अयोग्य व्यक्तिको गुरु या उपदेशक मान लिया जाय तो शास्त्रोंमें उससे उलटी हानि होना कहा गया है। यह प्रश्न और शास्त्रोंका कथन तो उचित ही है, परन्तु जिसका सङ्ग करनेसे परमात्मामें, उस महापुरुषमें और शास्त्रोंमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाय, उसे गुरु या उपदेशक

****

माननेमें कोई हानि नहीं। यदि कोई पूर्ण न भी हो तो जहाँतक उसकी गम्य है वहाँतक तो वह पहुँचा ही सकता है, (इस दृष्टिसे महापुरुषकी सङ्गति करनेवाले साधकोंका सङ्ग भी उत्तम और लाभदायक है) आगे परमात्मा स्वयं उसे निभा लेते हैं। साधकको आवश्यकता है परमात्माके परायण होनेकी। श्रीपरमात्माकी शरण लेनेमात्रसे ही सब कुछ हो सकता है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

अर्थात् जो अनन्यभावसे मुझमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थित पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। संसारमें भी यही बात देखनेमें आती है कि यदि कोई किसीके परायण हो जाता है तो उसकी सारी सँभाल वही रखता है, जैसे बच्चा जबतक अपनी माताके परायण रहता है, तबतक उसकी रक्षाका और सब प्रकारकी सँभालका भार माता स्वयं ही अपने ऊपर लिये रहती है। जबतक बालक बड़ा होकर स्वतन्त्र नहीं होता, तबतक माता-पिताके प्रति उसकी परायणता रहती है और जबतक परायणता रहती है, तबतक माता-पितापर ही उसका सारा भार है। इसी प्रकार केवल एक परमात्माकी शरण लेनेसे ही सारे काम सिद्ध हो सकते हैं; परंतु शरण लेनेका काम साधकका है। शरण होनेके बाद तो प्रभु स्वयं उसका सारा भार सँभाल लेते हैं। अतएव कल्याणके प्रत्येक साधकको परमात्माकी शरण लेनी चाहिये।

——★——

परमात्माका तत्त्व-रहस्यसहित स्वरूप

परमात्माका जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन स्वरूप है, वह एक, अद्वितीय, गुणातीत, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, क्रियारहित, आकाररहित, विकारशून्य, विशेषणोंसे रहित, गुणोंसे रहित, धर्मोंसे रहित, केवल, शुद्ध, चिन्मय, निर्विशेष है। वह प्रापणीय वस्तु है। वास्तवमें वह बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान और ध्यानका विषय नहीं है। वह स्वयं ही अपने-आपको जानता है। जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह फिर तद्रूप ही बन जाता है। जो उस विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म होकर ही उसे जानता है, उससे भिन्न होकर नहीं। यह कथन भी वास्तवमें बनता नहीं, केवल जिज्ञासु साधकोंको समझानेके लिये ही है।

परमात्माका जो दूसरा सगुण स्वरूप है, उसको इस प्रकार समझना चाहिये—

सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिके तीन गुण हैं। इन तीनों गुणोंसे युक्त प्रकृति ईश्वरकी शक्ति है, इसीको त्रिगुणमयी माया कहते हैं। (गीता ७। १४) और ईश्वर शक्तिमान् हैं। उनकी शक्ति उनसे भिन्न भी है और अभिन्न भी। तीनों गुणोंसे युक्त शक्ति जड है और परमात्मा चेतन है—इस दृष्टिसे तो वह शक्ति परमात्मासे भिन्न है तथा परमात्मा ही शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं, इस दृष्टिसे शक्ति परमात्मासे अभिन्न है। इस शक्तिका नाम ही प्रकृति है। प्रकृतिके कार्य होनेसे गुण प्रकृतिसे अभिन्न हैं तथा जैसे बर्फ जलसे ही उत्पन्न होती और जलमें ही विलीन हो जाती है, वैसे ही तीनों गुण प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते और उसीमें विलीन हो जाते हैं। महासर्गके आरम्भमें उस प्रकृतिसे ही गुण उत्पन्न होते हैं (गीता १४। ५), या यों कहिये कि प्रकृति गुणोंके रूपमें अभिव्यक्त होती है। समस्त जीवोंके संस्कार जो प्रकृतिके रूपमें स्थिर हो रहे हैं, जीवोंको उनका फल-भोग करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है अर्थात् उसमें हलचल पैदा होती है। उस हलचलसे प्रकृतिमें दो विभाग हो जाते हैं। इनमें एकका नाम विद्या और दूसरेका नाम अविद्या है। विद्या सत्त्वगुण है और अविद्या

तमोगुण है तथा जो प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वह क्रियारूप हलचल (चञ्चलता) रजोगुण है। यही प्रकृतिकी विषमावस्था है। महाप्रलयके समय ये तीनों गुण उस प्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं, वही प्रकृतिकी साम्यावस्था है। जितने कालतक महासर्ग रहता है, उतने ही कालतक महाप्रलय रहता है। महाप्रलयके समय संसारके रूपमें जीवोंके कर्म, तीनों गुण और गुणोंका कार्यरूप यह दृश्यवर्ग—जड संसार, ये सब-के-सब कारणरूप प्रकृतिमें तद्रूप हो जाते हैं तथा उस प्रकृतिसे संयुक्त सम्पूर्ण जीव ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। महाप्रलयके अन्त और महासर्गके आदिमें पुनः जीवोंके संस्काररूप कर्मोंका फल-भोग जीवोंको करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम—ये तीन विभाग हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृतिसंयुक्त परमात्मामें सृष्टिकी उत्पत्ति और विलय बारम्बार होते रहते हैं।

इस सगुणस्वरूप परमात्माके दो भेद हैं—१. निराकार, २. साकार।

१. वे सगुण-निराकार परमात्मा अविद्यासे अति परे, अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त, बोधस्वरूप, कैवल्यरूप, सर्वत्र परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय, अखण्ड, अतिदिव्य मङ्गलस्वरूप, सच्चिदानन्दमय हैं तथा क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त असीम अलौकिक अप्राकृत दिव्य चिन्मय गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे परमात्मा निराकाररूपसे सारे संसारमें व्यापक हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

(९।४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं; किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

इसी स्वरूपका वर्णन गीतामें परम दिव्य पुरुषके नामसे किया गया है—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(८। ९-१०)

'जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य-चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

(गीता ८। २२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सब भूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

(२) परमात्माका जो दिव्य गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूप है, वह चिन्मय है। इसी प्रकार भगवान्‌का परम धाम भी दिव्य चेतन है। एवं उस परम धाममें जानेवाले भक्तोंके स्वरूप भी चेतन हैं। वे ही क्षमा, दया, प्रेम, समता, शान्ति, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त दिव्य चिन्मय गुणोंसे युक्त भगवान् अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि

सगुण-साकार रूपोंसे प्रकट होते हैं अर्थात् अवतार लेते हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यह श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिका अवतार-विग्रह अनधिकारी मूढ़ मनुष्योंके लिये भगवान्‌की त्रिगुणमयी मायासे आच्छादित रहता है, इसीलिये भगवान्‌के तत्त्वको न जाननेवाले वे मनुष्य उसे नहीं जान पाते। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु भगवान् अपने अनन्य विशुद्ध प्रेमी श्रद्धालु भक्तके लिये अपनी उस त्रिगुणमयी योगमायाका पर्दा दूर कर देते हैं, जिससे वह भक्त अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपका दर्शन कर लेता है तथा तत्त्वसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकारके रूपवाला मैं

****

प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना तथा प्रवेश भी किया (एकीभावसे प्राप्त किया) जा सकता हूँ।'

परंतु जिनका भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम नहीं है, ऐसे आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके लिये भगवान् अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं। अतः वे आसुर स्वभाववाले मूढ़ मनुष्य भगवान्‌को न जाननेके कारण उनका तिरस्कार करते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

'मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

किंतु ज्ञानी महात्मा पुरुष उस परमात्माके परम दिव्य स्वरूपको तत्त्वसे जानते हैं। एवं जो जानते हैं, वे संसारसे मुक्त होकर उस परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

संसारमें स्थित दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों तथा ज्ञानी महात्मा महापुरुषोंमें जो क्षमा, दया, प्रेम, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि गुण दृष्टिगोचर होते हैं, उन गुणोंमें और परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंमें भी बहुत अन्तर है। पूर्णिमाके चन्द्रमाका एक तो असली स्वरूप होता है, जो आकाशमें स्थित दीखता है; और दूसरा दर्पणमें उसका वैसा-का-वैसा प्रतिबिम्बस्वरूप दीखता है। सगुण परमात्माके जो दिव्य गुण हैं, वे तो पूर्ण चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपकी भाँति हैं और चिन्मय हैं; तथा जो प्रकृतिके कार्यभूत विद्यारूप सात्त्विक गुण हैं, वे प्रकृतिके कार्य होनेसे जड हैं। ये गुण दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों और ज्ञानी महात्मा

पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें, दर्पणमें पूर्ण चन्द्रमाके प्रतिबिम्बकी भाँति, परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंके ही प्रतिबिम्बभूत हैं।

साधकके गुणों और सिद्ध महात्माके गुणोंमें भी भेद है। दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक साधक पुरुष तो गुणोंकी सत्ता अपनेमें मानता है और गुणातीत ज्ञानी महात्मा पुरुष इस देहके अभिमानसे रहित हो परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं; अतः उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें ये गुण रहते अवश्य हैं, किंतु इन गुणरूप धर्मोंकी अपनेमें माननेवाला कोई धर्मी नहीं रहता; क्योंकि वे स्वयं तो गुणोंसे अतीत हो सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं।

साधकों और महात्माओंके जो क्षमा, दया, प्रेम, ज्ञान, शान्ति, समता, संतोष आदि गुण हमलोगोंकी जानकारीमें आते हैं, वे दिव्य होते हुए भी ज्ञेय होनेके कारण जड हैं। किंतु परमात्माके स्वरूपभूत गुण दूसरेके द्वारा जाननेमें नहीं आ सकते, उनको महर्षि और देवगण भी नहीं जान सकते। इसी प्रकार उनका दिव्य स्वरूप भी किसी दूसरेके जाननेमें नहीं आ सकता। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

(गीता १०।२)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका तथा महर्षियोंका भी आदि कारण हूँ।'

वे स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं। गीतामें अर्जुनने भगवान्‌के प्रति कहा है—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

(१०।१५ का पूर्वार्ध)

'हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

क्योंकि यदि भगवान्‌का स्वरूप किसी दूसरेके जाननेमें आ जाय, तब तो वह भी अन्य ज्ञेय पदार्थोंकी भाँति जड ही समझा जायगा। परमात्मा बुद्धिसे परे हैं, अतएव उनको बुद्धिके द्वारा कोई नहीं जान सकता; किंतु वे सबको जानते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(७। २६)

'हे अर्जुन! पूर्वमें हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ; परंतु मुझको कोई भी श्रद्धाभक्तिरहित पुरुष नहीं जानता।'

ऊपर परमात्माके निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दमय स्वरूप तथा सगुण-निराकार एवं सगुण-साकार स्वरूपोंकी जो बात बतलायी गयी; इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परमात्मा अनेक हैं। एक परमात्माके ही ये अलग-अलग स्वरूप उपासकोंकी दृष्टिसे ही बतलाये गये हैं। वस्तुतः इन सभी रूपोंमें एक, अद्वितीय, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, केवल, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं।

इसलिये उन परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको उनकी अनन्यभक्ति करनी चाहिये। उस अनन्य भक्तिका स्वरूप भगवान्‌ने अपने अनन्य भक्तके लक्षण कहकर इस प्रकार बतलाया है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है (मुझसे ही प्रेम करता है), आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके प्रति वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

——★——

चतुःश्लोकी भागवत

निवेदन

ब्रह्माजीकी निष्कपट तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपने रूपका दर्शन कराया और आत्मतत्त्वके ज्ञानके लिये उन्हें परम सत्य परमार्थ वस्तुका उपदेश किया। वही उपदेश 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे प्रसिद्ध है।

जब ब्रह्माजी अपने जन्मस्थान कमलपर बैठकर सृष्टि करनेकी इच्छासे विचार करने लगे, परंतु जिस ज्ञानदृष्टिसे सृष्टिका निर्माण हो सकता था, वह दृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई, तब उनके सोच-विचार करते समय एक दिन अकस्मात् प्रलयकी उस अनन्त जलराशिमें उन्हें दो अक्षरोंका एक शब्द दो बार सुनायी पड़ा। उसका पहला अक्षर तो 'त' था और दूसरा 'प'। अर्थात् उन्होंने 'तप-तप' ऐसा सुना। इसे तप करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा मानकर और उसीमें अपना परम हित समझकर उन्होंने एक हजार दिव्य वर्षपर्यन्त तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपना परमधाम (वैकुण्ठलोक) दिखलाया। उस परम दिव्य लोकका और उसमें भगवान्‌का दर्शन करके ब्रह्माजीका हृदय आनन्दसे भर गया, शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये। फिर ब्रह्माजीने भगवान्‌के चरणकमलोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया। उस समय भगवान् बहुत प्रसन्न हुए एवं उन्होंने बड़े प्रेमसे ब्रह्माजीका हाथ पकड़ लिया और कहा— 'ब्रह्मन्! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, वही वर मुझसे माँग लो।'

तब ब्रह्माजीने प्रार्थना की—'भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके स्वामी हैं, सबके हृदयमें आप अन्तर्यामीरूपसे विराजमान रहते हैं। आप अपने दिव्य ज्ञानसे यह जानते ही हैं कि मैं क्या करना चाहता हूँ। फिर भी आपसे मैं यह याचना कर रहा हूँ। आप कृपा करके मेरी माँग पूरी कीजिये। प्रभो!

****

आप रूपरहित हैं; तथापि मैं आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको जान सकूँ, ऐसी कृपा कीजिये। आप मायाके स्वामी हैं, आपका संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। जैसे मकड़ी अपने मुँहसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेती है, वैसे ही आप अपनी मायाको स्वीकार करके इस विविध शक्तिसे युक्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेके लिये अपने-आपको ही अनेक रूपोंमें बना लेते हैं और क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार आप कैसे करते हैं— इस मर्मको मैं जान सकूँ, ऐसा ज्ञान आप मुझे दीजिये। आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सावधानीपूर्वक आपकी आज्ञाका पालन कर सकूँ और सृष्टिकी रचना करते समय भी कर्तापन आदिके अभिमानसे रहित रहूँ।'

ब्रह्माजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उन्हें भागवतका साररूप निम्नलिखित उपदेश किया, जो श्रीमद्भागवतके दूसरे स्कन्धके नवें अध्यायके तीसवेंसे छत्तीसवें श्लोकोंमें वर्णित है। इन सात श्लोकोंमें प्रथम दो श्लोक तो उपक्रमके रूपमें हैं और अन्तिम एक श्लोक उपसंहारके रूपमें है; शेष बीचके चार श्लोकोंको 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे कहा जाता है।

श्रीस्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डान्तर्गत श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें बतलाया गया है—

ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वचः।
मायामर्दनदक्षं च विद्धि भागवतं च तत्॥
प्रमाणं तस्य को वेद ह्यनन्तस्याक्षरात्मनः।
ब्रह्मणे हरिणा तद्दिक् चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता॥

(अ० ४। ५-६)

'जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अङ्गभूत चार प्रकारके साधनोंको प्रकाशित करनेवाला है तथा जो मायाका मर्दन करनेमें समर्थ है, उसे 'श्रीमद्भागवत' समझो। श्रीमद्भागवत अनन्त अक्षर स्वरूप है; इसका

नियत प्रमाण भला कौन जान सकता है। पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके प्रति चार श्लोकोंमें इसका दिग्दर्शन कराया था।'

चतुःश्लोकी भागवत

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥ ३०॥

श्रीभगवान् बोले—

	(ब्रह्मन्!)	सरहस्यम्	=रहस्यसहित
मे	=मेरा	तदङ्गम्	=उसके अङ्गोंका
यत्	=जो	मया	=मेरे द्वारा
परमगुह्यम्	=परम गोपनीय	गदितम्	=वर्णन किया जाता है,
विज्ञानसमन्वितम्	=विज्ञानसहित		
ज्ञानम्	=ज्ञान है, उसका	(तत्)	=उसे
च	=तथा	गृहाण	=तुम ग्रहण करो।

व्याख्या—ब्रह्मन्! मेरे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघनस्वरूपके तत्त्व, प्रभाव, माहात्म्यका यथार्थ ज्ञान ही 'ज्ञान' है तथा सगुण निराकार और दिव्य साकार स्वरूपके लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और माहात्म्यका वास्तविक ज्ञान ही 'विज्ञान' है। यह विज्ञानसहित ज्ञान समस्त गुह्य और गुह्यतर विषयोंसे भी अतिशय गुह्य गोपनीय है, इसलिये यह परम गुह्य—सबसे बढ़कर गुप्त रखने योग्य है। ऐसे परम गोपनीय ज्ञानके साधनोंका मैं रहस्यसहित वर्णन करता हूँ, तुम उसे सुनकर धारण करो।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनसे भी प्रायः इसी प्रकार कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(९।१)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस गुह्यतम—परम गोपनीय

विज्ञानसहित ज्ञानको (पुनः) भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥ ३१ ॥

अहम्	= मैं	तत्त्वविज्ञानम्	= उन सबके तत्त्वका विज्ञान
यावान्	= जितना हूँ,	ते	= तुम्हें
यथाभावः	= जिस भावसे युक्त हूँ,	मदनुग्रहात्	= मेरी कृपासे
यद्रूपगुणकर्मकः	= जिन रूप, गुण और लीलाओंसे समन्वित हूँ,	तथैव	= ज्यों-का-त्यों
		अस्तु	= प्राप्त हो जाय।

व्याख्या—सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, स्थूल-सूक्ष्म, जड-चेतन, यावन्मात्र—जितना जो कुछ भी है, वह सब मैं परब्रह्म परमात्मा ही हूँ तथा मैं सच्चिदानन्दमय भावस्वरूप हूँ एवं क्षमा, दया, शान्ति, समता, ज्ञान, प्रेम, उदारता, वात्सल्य, सौहार्द आदि अनन्त असीम दिव्य गुणोंसे सम्पन्न तथा लोगोंका उद्धार करनेके लिये नानाविध दिव्य अलौकिक कर्म लीलाओंसे युक्त जो मेरा सगुण-साकार रूप है, मेरे उस विज्ञानसहित ज्ञानमय समग्र स्वरूपका तत्त्व तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों प्राप्त हो जाय।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ ३२ ॥

अग्रे	=सृष्टिके पूर्व		होनेके बाद) जो कुछ भी
एव	=भी	एतत्	=यह दृश्यवर्ग है, (वह मैं ही हूँ।)
अहम्	=मैं	यत्	=जो
एव	=ही	सत्	=सत् (अक्षर)
आसम्	=था;	असत्	=असत् (क्षर)
अन्यत्	=मुझसे भिन्न कुछ भी	परम्	=और उसके परे
न	=नहीं था।		
च	=और		
यत्	=(सृष्टिके उत्पन्न		

		(पुरुषोत्तम) है,			नाश हो जानेपर)
		(वह सब मैं ही हूँ।)			जो कुछ
पश्चात्	=	(तथा) सृष्टिकी	अवशिष्येत	=	बच रहता है,
		सीमाके बाद भी	सः	=	वह (सब भी)
अहम्	=	मैं ही हूँ।	अहम्	=	मैं (ही)
यः	=	(एवं इन सबका	अस्मि	=	हूँ।

व्याख्या—सृष्टि— महासर्गके पूर्व भी मैं ही था। मेरे सिवा और कुछ भी नहीं था और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ तथा सत्—अक्षर और असत्—क्षर एवं उससे परे जो पुरुषोत्तम ईश्वर है, सब मेरा ही स्वरूप है(**'सदसच्चाहमर्जुन'**—गीता ९।१९; **'सदसत् तत्परं यत्'**—गीता ११।३७)। तथा सृष्टिकी सीमाके पश्चात्—जहाँ सृष्टि नहीं है, वहाँ जो केवल निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वह भी मैं ही हूँ और सृष्टिका विनाश होनेपर जो शेषमें बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ।

अभिप्राय यह कि जैसे बादलोंके उत्पन्न होनेसे पहले केवल आकाश ही था, उसके सिवा और कुछ भी नहीं था तथा बादल और उनका गरजना-बरसना, बिजलीका चमकना आदि सब आकाश ही है; क्योंकि आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है—**'आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।'** (तैत्तिरीय उप० वल्ली २ अनु० १)। अतः आकाश ही वायु, तेज, जल, पृथ्वीका मूल कारण होनेसे यह सब कुछ आकाश ही है। तथा जहाँ बादल नहीं हैं, वहाँ बादलोंकी सीमाके परे भी आकाश ही है एवं बादल आदिका विनाश होनेपर केवल आकाश ही रह जाता है। उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें तथा उसकी सीमाके परे भी सदा ही विद्यमान रहते हैं।

भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

(१०।३२)

'अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०।३९)

'एवं अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो।'

अतः भागवतके उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्ने ब्रह्माजीको यही भाव समझाया है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति। (गीता ७।७)

'मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है।'

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥ ३३॥

यथा	=जैसे	च	=एवं
आभासः	=आभास अर्थात् किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है, प्रतीतिमात्र ही है, (उसी प्रकार)	यथा	=जैसे (विद्यमान होते हुए भी)
अर्थम्	=(मुझ) परमार्थ वस्तुरूप परमात्माके	तमः	=तम अर्थात् राहु ग्रहकी प्रतीति नहीं होती, (इसी प्रकार वास्तवमें सत् होते हुए भी जो मुझ परमात्माकी)
ऋते	=अतिरिक्त	न प्रतीयेत	=प्रतीति नहीं होती।
आत्मनि	=परमात्मामें	तत्	=यह दोनों प्रकारकी ही
यत्	=जो कुछ	आत्मनः	=मेरी
प्रतीयेत	=प्रतीत होता है, (वह वास्तवमें कुछ नहीं है।)	मायाम्	=माया है—यों
		विद्यात्	=समझना चाहिये।

व्याख्या—जैसे नेत्रोंके दोषसे आकाशमें तिलमिले या जाले-से दिखलायी पड़ते हैं अथवा दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, पर वास्तवमें वे हैं नहीं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें परमात्मासे भिन्न प्रकृतिका कार्यरूप यह जडवर्ग माया (अज्ञान) के कारण बिना हुए ही प्रतीत होता है; तथा जैसे आकाशमें विद्यमान रहते हुए भी राहु ग्रह दिखलायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार वह सच्चिदानन्द परमात्मा वास्तवमें ध्रुव सत्य होनेपर भी माया (अज्ञान) के कारण प्रतीत नहीं होता। बिना हुए ही इस जड संसारकी प्रतीति होना और वास्तवमें सत् होते हुए भी परमात्माकी प्रतीति न होना—इन दोनोंमें माया (अज्ञान) ही कारण है।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ ३४॥

यथा	=जैसे	तथा	=उसी प्रकार
उच्चावचेषु भूतेषु	=प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें	तेषु	=उनमें (मैं प्रविष्ट हूँ भी)
महान्ति भूतानि	=(आकाशादि पाँच) महाभूत	तेषु	=(और वास्तवमें) उनमें
अनुप्रविष्टानि	=प्रविष्ट भी हैं (और)	अहम्	=मैं
अप्रविष्टानि	=प्रविष्ट नहीं भी हैं,	न	=प्रविष्ट नहीं हूँ।

व्याख्या—जैसे पाँचों महाभूत प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें प्रविष्ट हुए दिखलायी देते हैं, उसी प्रकार मैं उन सब शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ-सा दिखलायी पड़ता हूँ; परंतु वास्तवमें पाँचों महाभूत उन शरीरोंमें प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं हैं, उसी प्रकार मैं भी उनमें प्रविष्ट नहीं हूँ।

भाव यह है कि जैसे आकाशके कार्यरूप बादलोंके समुदायमें आकाश प्रविष्ट हुआ-सा प्रतीत होता है, किंतु वास्तवमें वह उनमें प्रविष्ट नहीं है, क्योंकि बादलोंके नाशसे आकाशका नाश नहीं होता, बादलोंके न रहनेपर भी आकाश रहता है और बादलोंके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें चले जानेपर

आकाशका उनके साथ गमन नहीं होता; इस दृष्टिसे बादलोंमें होते हुए भी आकाश उनमें प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं है। आकाशकी भाँति ही कोई भी महाभूत अपने कार्यमें आबद्ध नहीं है। उसी प्रकार परमात्मा भी समस्त जगत्‌में प्रविष्ट हुए-से प्रतीत होते हैं; परंतु वास्तवमें वे जगत्‌में प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं हैं; क्योंकि वे निर्विकार, निष्क्रिय और निर्लेप हैं। समस्त जगत्‌का नाश होनेपर भी परमात्मा विद्यमान रहते हैं। जिस जगह जगत् नहीं है, वहाँ भी परमात्मा विद्यमान हैं।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥ ३५॥

आत्मनः	=परमात्माके
तत्त्वजिज्ञासुना	=तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले मनुष्यको
अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्	=विधिरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे हैं,' 'परमात्मा ऐसे हैं'—इस भावसे तथा निषेधरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे भी नहीं', 'परमात्मा ऐसे भी नहीं'—इस भावसे
एतावत्	=इतना
एव	=ही
जिज्ञास्यम्	=जानना आवश्यक है
यत्	=कि (परमात्मा ही)
सर्वत्र	=सब देशमें
सर्वदा	=(और) सब कालमें
स्यात्	=विद्यमान हैं।

व्याख्या—परमात्मा विज्ञानानन्दघन हैं, सदा सबमें समभावसे स्थित हैं, सर्वव्यापी, सर्वत्र परिपूर्ण और परम शान्तिस्वरूप हैं, इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका वर्णन विधिरूपसे किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'अन्वय' रूपसे वर्णन है। एवं परमात्मा आकारवाला नहीं, विकारोंवाला नहीं, क्रियावाला नहीं, मनके द्वारा चिन्तनमें आनेवाला नहीं, संकेतमें आनेवाला नहीं, व्यक्त नहीं, चलनशील नहीं, शान्त नहीं, सीमावाला नहीं, इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका निषेधरूपसे वर्णन किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'व्यतिरेक' रूपसे वर्णन है।

परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जाननेकी इच्छावाले साधकको चाहिये कि उपर्युक्त दोनों प्रकारोंसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥ ३६॥

	(ब्रह्मन्!)
भवान्	=तुम
परमेण	=उत्कृष्ट
समाधिना	=समाधिके द्वारा
एतत्	=मेरे इस
मतम्	=सिद्धान्तमें
समातिष्ठ	=भलीभाँति स्थित हो जाओ।
	(इससे तुम)
कल्पविकल्पेषु	=कल्प-कल्पान्तरोंमें भी
कर्हिचित्	=कभी कहीं भी
न विमुह्यति	=मोहित नहीं होओगे।

व्याख्या—ब्रह्मन्! तुम सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित परम समाधिमें स्थित होकर निश्चयपूर्वक मेरे इस उपर्युक्त सिद्धान्तको भलीभाँति स्वीकार करो। यों करनेसे तुम अनेक कल्प-कल्पान्तरोंमें सृष्टिकी रचना करते हुए कभी कहीं भी मोहित नहीं होओगे।

इस प्रकार भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीको आदेश दिया है। अतः साधकको चाहिये कि वह सब प्रकारसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है। यों करनेसे वह शोक-मोहादि सम्पूर्ण विकारों और दुःखोंसे मुक्त हो और परमशान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो सकता है।

★

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

श्रीवसिष्ठजीने बतलाया है—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ५-६)

'पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा—इस प्रकार ये ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं।'

इनके स्वरूपको पृथक्-पृथक् इस प्रकार समझना चाहिये—

१-शुभेच्छा

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ८)

'मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा—इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने 'शुभेच्छा' कहा है।'

अभिप्राय यह कि समस्त (पापमय) अशुभ इच्छाओंका अर्थात् चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष्यभोजन, दुर्व्यसन और प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा) आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका मन, वाणी और शरीरसे त्याग करना; नाशवान् क्षणभङ्गुर स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि काम्यकर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाका त्याग करना;

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करनेकी याचना न करना और बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार न करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा न रखना; ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह और शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्यका तथा सब प्रकारकी सांसारिक कामनाका त्याग करना एवं **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (ऐतरेय-उप० १ । ३)—ब्रह्म विज्ञानघन है, **'अयमात्मा ब्रह्म'** (माण्डूक्य-उप० २) यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है, **'तत्त्वमसि'** (छान्दोग्य-उप० ६ । १२ । ३)—वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म तू ही है और **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृहदा० उप० १ । ४ । १०)—मैं देह नहीं हूँ, ब्रह्म हूँ—इन वेदान्तवाक्योंका एकमात्र परमात्माके तत्त्व-रहस्य-ज्ञानपूर्वक उनको प्राप्त करनेकी इच्छासे सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना और सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे इन महावाक्योंका श्रवण करना ही 'शुभेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका है। इसलिये इस भूमिकाको 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है।

२-विचारणा

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । ९)

''शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्ग तथा विवेक, वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—यह 'विचारणा' नामकी भूमिका कही जाती है।'

उपर्युक्त प्रकारसे सत्पुरुषोंके सङ्ग, सेवा एवं आज्ञापालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही 'विचारणा' है। भाव यह कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक इनका भलीभाँति पृथक्करण

कर देता है। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है।

जिसका कभी नाश न हो, वह 'सत्' है और जिसका नाश होता है, वह 'असत्' है। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस नियमके अनुसार जो दृश्य जड पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण असत् हैं और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है। जीवात्मा भी उसका अंश होनेके कारण सत् है। अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, मायाकी उपाधिके सम्बन्धसे उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाशके एक होते हुए भी घड़ेकी उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश, महाकाश एक ही हैं, इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा वास्तवमें एक ही हैं—इस तत्त्वको समझ लेना 'विवेक' है।

उपर्युक्त विवेकके द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है; एवं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही 'वैराग्य' है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योगदर्शन १।१५)

'स्त्री, पुत्र, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।'

समस्त इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, वे सब अनित्य हैं; किंतु अज्ञानसे अनित्यमें नित्यबुद्धि होनेके कारण विषयभोगादि नित्य प्रतीत होते हैं। इसलिये उनको अनित्य मानकर उनसे वैराग्य करना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(२। १४)

'हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर।'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(२। १५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

अतः वैराग्यकी प्राप्तिके लिये संसारके विषयभोगोंको अनित्य और दुःखरूप समझकर उनमें आसक्तिरहित होना परम आवश्यक है, यों समझकर ही विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमते। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है; उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें समता आदि गुण आने लगते हैं; उसके मन, इन्द्रिय और शरीर विषयोंसे हटकर वशमें हो जाते हैं, फिर उसे गङ्गातट, तीर्थस्थान, गिरि-गुहा, वन आदि एकान्तदेशका सेवन ही अच्छा लगता है; उसके ममता, राग-द्वेष, विक्षेप और मान-बड़ाईकी इच्छाका अभाव-सा हो जाता है; विषयभोगोंसे स्वाभाविक ही उपरति हो जाती है एवं विवेक-वैराग्यके प्रभावसे वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है।

भगवान्ने गीतामें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

(१३।७—११)

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह; इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री,

घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना; अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान है—यों कहा गया है।'

दूसरी भूमिकामें परिपक्व हो जानेपर उस साधकमें उपर्युक्त गुण और आचरण आने लगते हैं।

ऊपर प्रथम भूमिकामें बताये हुए महावाक्योंका निरन्तर मनन और चिन्तन करना ही प्रधान होनेके कारण इस दूसरी भूमिकाको 'विचारणा' कहा गया है, अतः इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जा सकता है।

३-तनुमानसा

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । १०)

'उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव होना और अनासक्त हो संसारमें विचरण करना—यह 'तनुमानसा' है; इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मताको प्राप्त हो जाता है, इसीलिये इसे 'तनुमानसा' कहते हैं।'

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममताके अभावसे; सत्पुरुषोंके सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन—ध्यानके साधनसे साधककी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इसीको 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है।

इस तीसरी भूमिकामें स्थित साधकके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका

अभाव होकर स्वाभाविक ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया (दोषदृष्टिका अभाव), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान, तेज, क्षमा, दया, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति, समता आदि सद्‌गुणोंका आविर्भाव हो जाता है। फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब सदाचाररूप ही होती है तथा उस साधकको 'संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं'—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें उसकी वासनाका भी अभाव हो जाता है। भाव यह है कि उसके अन्तःकरणमें उनके चित्र संस्काररूपमें भी नहीं रहते एवं शरीरमें अहंभाव तथा मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान नहीं रहता; क्योंकि वह परवैराग्यको प्राप्त हो जाता है। परवैराग्यका स्वरूप महर्षि पतञ्जलिने यों बतलाया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(योगदर्शन १।१६)

'प्रकृतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे तीनों गुणोंमें जो तृष्णाका अत्यन्त अभाव हो जाना है, यह पर वैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य है।'

पूर्वोक्त दूसरी भूमिकामें स्थित पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है; परंतु इस तीसरी भूमिकामें पहुँचे हुए पुरुषकी तो विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि उसके विषयमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं। अतः परवैराग्य हो जानेके कारण उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपरत हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई स्फुरण हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उसकी एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और संसारका विस्मरण होकर समाधि-सी हो जाती है। ये सब लक्षण परमात्माकी

प्राप्तिके अत्यन्त निकट पहुँच जानेपर होते हैं।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नामकी तीसरी भूमिका है। अतः इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं।

ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूप हैं। इनमें संसारसे कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँतक साधककी 'जाग्रत्-अवस्था' मानी गयी है।

४-सत्त्वापत्ति

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ११)

'ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा—श्रवण, विचारणा—मनन और तनुमानसा—निदिध्यासन भूमिकाओंके अभ्याससे चित्तके सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक्त हो जानेके अनन्तर उसके प्रभावसे आत्माका शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मामें तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।'

उपर्युक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासनके तीव्र अभ्याससे जब साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, तब उसीको 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका कहते हैं। इसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त—'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार गङ्गा-यमुना आदि सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-

****

रूपको छोड़कर समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है, उसीमें विलीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डकोपनिषद् ३।२।८)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८।५४-५५)

'मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकारके अनुभवसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला ज्ञानयोगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस ज्ञाननिष्ठासे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

जब साधकको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है—

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

(मुण्डकोपनिषद् ३।२।९)

फिर उसका इस शरीर और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी घटनाको मनकी कल्पनामात्र समझता है, वैसे ही उस ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें यह संसार कल्पनामात्र प्रतीत होता है अर्थात् इस संसारकी काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है। स्वप्नमें और इसमें इतना ही अन्तर है कि स्वप्नका समय तो भूतकाल है और संसारकी स्वप्नवत् प्रतीतिका समय वर्तमानकाल है; तथा स्वप्नमें तो जो मन-बुद्धि थे, वे वर्तमानमें भी इस जीवात्माके साथ सम्बन्धित हैं, किंतु जब मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि इस शरीरमें ही रह जाते हैं, उस ब्रह्मवेत्ताके साथ ब्रह्ममें सम्बन्धित नहीं होते, इसलिये ब्रह्मकी दृष्टिसे तो इस संसारका अत्यन्त अभाव है।

वास्तवमें तो ब्रह्मके कोई दृष्टि ही नहीं है। केवल समझानेके लिये उसमें दृष्टिका आरोप किया जाता है। ब्रह्मकी दृष्टिमें तो केवल एक ब्रह्म ही है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। ब्रह्मवेत्ताके शरीरका जो अन्तःकरण है, उसमें इस संसारका तो अत्यन्त अभाव और सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव प्रत्यक्ष है। यह ब्रह्मवेत्ताका अनुभव है। इसी अनुभवके बलपर शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।

जो ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है। श्रुतिमें भी कहा गया है—'**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**' (बृहदारण्यक० ४।४।६)—'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसलिये वह लौटकर नहीं आता। श्रुति कहती है—

'न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते।'

(छान्दोग्य० ८।१५।१)

'फिर वह कभी नहीं लौटता, फिर वह कभी नहीं लौटता।'

जब ब्रह्मकी दृष्टिमें सृष्टिका अत्यन्त अभाव है, तब ब्रह्म ही हो जानेपर लौटकर कौन कैसे कहाँ आवे ? गीतामें भी बतलाया गया है—

****

तद्‌बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् पुनः न लौटनेवाली परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

भाव यह कि उसका मन तद्रूप—ब्रह्मरूप हो जाता है। पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, एक आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपका मनन करते-करते जब मन तन्मय—ब्रह्ममय हो जाता है, तब उसको 'तदात्मा' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारके विशेषणोंसे विभूषित ब्रह्मका मनन करते-करते जब मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और उन विशेषणोंकी आवृत्तिके प्रभावसे ब्रह्मके विशेष स्वरूपका बुद्धिमें अनुभव हो जाता है, तब बुद्धिके द्वारा अनुभव किये हुए उस ब्रह्मके विशेष स्वरूपको लक्ष्य बनाकर जीवात्मा उस ब्रह्मका ध्यान करता है। यहाँ ब्रह्म तो ध्येय है, ध्यान करनेवाला साधक ध्याता है और बुद्धिकी वृत्ति ही ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते-करते जब बुद्धि उस ब्रह्ममें विलीन हो जाती है तब उसे 'तद्‌बुद्धि' कहते हैं। इसके पश्चात् जब ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी न रहकर साधककी ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्न स्थिति हो जाती है, तब उसे 'तन्निष्ठ' कहते हैं। इसमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है, इसलिये यह प्रारम्भिक 'सविकल्प समाधि' है। इसीको सवितर्क सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।

(योगदर्शन १ । ४२)

'उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे मिली हुई समाधि सवितर्क है।'

इस प्रकार सविकल्प समाधि होनेके बाद जब स्वतः ही साधककी निर्विकल्प समाधि हो जाती है, तब ब्रह्मका नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान—ये तीनों विकल्प भिन्न-भिन्न नहीं रह जाते, एक अर्थमात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रह जाता है। इसीको निर्वितर्क सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

(योगदर्शन १।४३)

'(शब्द और प्रतीतिकी) स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (अन्तःकरणकी स्थिति ही) निर्वितर्क समाधि है।'

इसमें साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है। अतः उसको 'तत्परायण' कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधिका फल जो निर्बीज असम्प्रज्ञात योग है, वही वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति है; उसीको यहाँ गीतामें अपुनरावृत्ति कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मज्ञानके द्वारा जिसके मल, विक्षेप और आवरणरूप कल्मषका नाश हो गया है, वह ब्रह्मको प्राप्त पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है; वह लौटकर नहीं आता।

यही 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका है। इसमें पहुँचे हुए पुरुषको 'ब्रह्मवित्'—ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। इसमें संसार उस ज्ञानी महात्माके अन्तःकरणमें स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी 'स्वप्नावस्था' मानी जाती है।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और जनक आदि इस चौथी भूमिकाको प्राप्त हुए पुरुष माने गये हैं।

योगवासिष्ठमें जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं भूमिकाके रूपमें चार भेद बतलाये गये हैं, इस प्रकारके भेद गीता,

रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते । परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण तो गीतामें जगह-जगह आते हैं, किंतु उसके इस प्रकारके अलग-अलग भेद नहीं बताये गये हैं। वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके पश्चात् ज्ञानी महात्मा पुरुषका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि वह देहाभिमानसे सर्वथा रहित होकर ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है। अतः योगवासिष्ठमें बतलाये गये उन भेदोंको ब्रह्मप्राप्त पुरुषके भेद न समझकर उसके अन्तःकरणके भेद समझने चाहिये।

५-असंसक्ति

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १२)

'शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति—इन चारों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे चित्तके बाह्याभ्यन्तर सभी विषयसंस्कारोंसे अत्यन्त असङ्ग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जानेपर अन्तःकरणका समाधिमें आरूढ़—स्थित हो जाना ही 'असंसक्ति' नामकी पाँचवीं भूमिका कहा गया है।'

परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसीलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है।

ऐसे पुरुषका संसारसे कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

(३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुषके सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना एवं संकल्पसे शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

अतः ऐसे पुरुषको उसके सम्मानके लिये 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्थामें रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति-अवस्थाकी भाँति संसारका बिलकुल भान नहीं रहता और व्युत्थान-अवस्थामें—व्यवहार-कालमें उसके द्वारा पूर्वके अभ्याससे सत्ता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमानके बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे शास्त्रविहित ही होते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थान-अवस्था। उसकी किसी दूसरेके प्रयत्नके बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था हो जाती है। किंतु वास्तवमें संसारके अभावका निश्चय होनेके कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधिके तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्थाको 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।

श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

६-पदार्थाभावना

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १३-१४)

'उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे उस ज्ञानी महात्माकी आत्मारामताके प्रभावसे उसके अन्तःकरणमें संसारके पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतरके किसी

भी पदार्थका स्वयं भान नहीं होता, दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक चिरकालतक प्रेरणा करनेपर ही कभी किसी पदार्थका भान होता है; इसलिये उसके अन्तःकरणकी 'पदार्थाभावना' नामकी छठी भूमिका हो जाती है।'

पाँचवीं भूमिकाके पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसारका और शरीरके बाहर-भीतरका बिलकुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं; इसलिये उस भूमिकाको 'पदार्थाभावना' कहते हैं। जैसे 'गाढ़ सुषुप्ति'में स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिलकुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः उस पुरुषकी इस अवस्थाको 'गाढ़ सुषुप्ति-अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण अपने कारण मायामें विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं (गीता ५। १७), अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिये यह गाढ़ सुषुप्तिसे अत्यन्त विलक्षण है।

तथा गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुष तो निद्राके परिपक्व हो जानेपर स्वतः ही जाग जाता है; किंतु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था तो दूसरोंके बारम्बार प्रयत्न करनेपर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्मविषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषको **'ब्रह्मविद्वरीयान्'** कहते हैं।

श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

७-तुर्यगा

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १५)

'उपर्युक्त छहों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक चिरकालतक अभ्यास होनेसे जिस अवस्थामें दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करनेपर भी भेदरूप संसारकी सत्ता-स्फूर्तिकी उपलब्धि नहीं होती, वरं अपने आत्मभावमें स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थितिको उसके अन्तःकरणकी 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिये।'

छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसारका और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है; क्योंकि मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थान-अवस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है। जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है। अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कही जाती है।

ब्रह्मकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव है। उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धिमें भी शरीर और संसारका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तमें मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेसे उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर उसका कल्याण हो सकता है।

इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको विवेक-वैराग्यपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें निरन्तर स्थित रहनेके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये।

★

भगवान्‌के निराकार-तत्त्वका रहस्य

श्रीभगवान् गीताके नवम अध्यायके प्रथम श्लोकमें कहते हैं—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

'अर्जुन! तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

इस प्रकार इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् उसके आठ विशेषण देकर उसकी महिमा प्रकट करते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। २)

'जो विज्ञानसहित ज्ञान मैं तुझे बतलाऊँगा, वह सब विद्याओंका राजा, सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा, पापीसे भी पापीको पवित्र करनेवाला, सर्वोत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, परम धर्ममय, साधन करनेमें अत्यन्त सुगम और अविनाशी है।'

इसपर प्रश्न होता है कि इतना लाभदायक और बहुत ही सुगम साधन होनेपर भी सब लोग इसमें क्यों नहीं लग जाते तो इसका उत्तर यह है कि लोगोंमें श्रद्धाकी कमी है। भगवान्‌ने कहा—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९। ३)

'हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

गीतामें भगवान्‌ने साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण—सभी स्वरूपोंकी उपासना बतलायी है।

भगवान्‌ने अपने निराकार स्वरूपका तत्त्व और रहस्य बतलाते हुए कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(गीता ९।४-५)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

अभिप्राय यह है कि भगवान् इस संसारमें व्यापक, इस संसारके परम आधार और अभिन्ननिमित्तोपादान कारण* हैं। यहाँ—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है'—इस कथनसे भगवान्‌ने अपनी व्यापकता बतलायी है। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि यह संसार तो व्याप्य है और मैं इसमें व्यापक हूँ। तथा **'मत्स्थानि**

---

* जिस वस्तुसे जो चीज बनती है, वह उसका उपादान कारण है और बनानेवाला निमित्त कारण; जैसे घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार है। किंतु संसारके उपादान और निमित्त कारण परमात्मा ही हैं। जैसे मकड़ी जो जाला तानती है, उस जालेका उपादान कारण भी मकड़ी है और निमित्त कारण भी मकड़ी ही है, उसी प्रकार परमात्मा जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं; अतः वे उससे अभिन्न हैं।

सर्वभूतानि'—'सब भूत मुझमें स्थित हैं' और '**भूतभृत्**'—'मैं सब भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला हूँ'—यह कहकर भगवान्‌ने संसारका अपनेको परम आधार बतलाया है। एवं '**पश्य मे योगमैश्वरम्**'— 'मेरी इस अलौकिक रचनारूप ईश्वरीय योगशक्तिको देख'—यों कहकर अपनेको संसारका निमित्त कारण बताया है और '**ममात्मा भूतभावनः**'—'मेरा आत्मा (स्वरूप) भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला है'—यह कहकर अपनेको संसारका उपादान कारण बतलाया है।

परमात्मा किस प्रकार संसारमें व्यापक, उसके आधार और उपादान कारण हैं, इसको नीचे लिखे उदाहरणसे समझना चाहिये। जैसे बादलोंके समूहमें महाकाश व्यापक भी है और उनका परम आधार एवं उपादान कारण भी है, उसी प्रकार परमात्मा संसारमें व्यापक, उसके परम आधार और परम कारण हैं। बादलका कोई भी ऐसा हिस्सा नहीं, जिसमें आकाश न हो, इसी प्रकार जड-चेतन और चराचर जगत्‌का कोई भी ऐसा अंश नहीं है, जहाँ परमात्मा न हों। परमात्मा सब देश, सब काल और सब वस्तुओंमें परिपूर्ण हैं। श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईशा० उप० १)

'इस संसारमें जो कुछ जड-चेतन पदार्थसमुदाय है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

जैसे बादलोंका परम आधार आकाश है, बिना आकाशके बादल नहीं रह सकते, उसी प्रकार परमात्मा संसारके परम आधार हैं, बिना परमात्माके संसार नहीं रह सकता। एवं जैसे बादलोंकी उत्पत्ति आकाशसे हुई है— '**आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः।**' (तैत्ति० उप० २।१) 'आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि और अग्निसे जल उत्पन्न होता है।' बादल, बूँद, ओला, बर्फ—सब जल ही है। अतः आकाशसे ही बादलरूप

जलकी उत्पत्ति हुई है; सुतरां आकाश ही बादलका उपादान कारण है। इसी प्रकार परमात्माके संकल्पसे ही संसारकी उत्पत्ति हुई है। श्रुति कहती है—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।

(तैत्ति० उप० २। ६)

—'उस परमात्माने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ।'

स्वप्नावस्थामें मनुष्यका संकल्प ही स्वप्नके संसारका रूप धारण करता है। अतः वह स्वप्नका संसार उस मनुष्यसे अभिन्न है। जिसको स्वप्न आता है, वह मनुष्य ही इसका उपादान और निमित्त कारण है; क्योंकि उस मनुष्यके अतिरिक्त वहाँ अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, सब कुछ वह मनुष्य ही है। इसी प्रकार इस संसारके परमात्मा ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं। अन्तर इतना ही है कि जीव परतन्त्र और अज्ञानके वशमें है, किंतु परमात्मा स्वतन्त्र और ज्ञानस्वरूप हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि इन श्लोकोंमें भगवान्‌का यह कथन कि 'मैं संसारमें व्यापक हूँ और संसार मुझमें है'—तो ठीक समझमें आ जाता है, किंतु 'मैं संसारमें नहीं हूँ और संसार मुझमें नहीं है' यह बात समझमें नहीं आती; क्योंकि इनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। भगवान् पहले तो कहते हैं—

'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।'

—'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है अर्थात् मैं सब संसारमें व्यापक हूँ।' और फिर कहते हैं—**'न चाहं तेष्ववस्थितः, न च भूतस्थः'**—'मैं उन सब भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।' तथा चौथे श्लोकमें कहते हैं—**'मत्स्थानि सर्वभूतानि'**—'सब भूत मुझमें स्थित हैं' और पाँचवें श्लोकमें कहते हैं—**'न च मत्स्थानि भूतानि'**—'सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं।' इन वचनोंमें विरोध प्रतीत होता है, अतः इनमें कौन-सा वचन ठीक माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि इनमें विरोध नहीं है; अतः दोनों

ही बातें ठीक हैं। इनका तत्त्व समझना चाहिये।

उदाहरणके लिये आकाश बादलोंमें है और नहीं भी है। जब बादल नहीं थे, तब भी वहाँ आकाश था और बादमें जब बादल नहीं रहते, तब भी आकाश रहता है तथा बीचकी अवस्थामें भी बादलोंमें आकाश है। भाव यह कि बादलके आदि, मध्य और अन्तमें—सभी समय आकाश सदा ही अपने-आपमें विद्यमान है। बादल उत्पन्न होते हैं और फिर उनका विनाश हो जाता है; किंतु आकाश सदा ही एकरूप, एकरस रहता है। वास्तवमें तो जिस समय बादल है, उस समय भी आकाश अपने-आपमें ही स्थित है; पर समझानेके लिये यह कहा जाता है कि बादलोंमें आकाश व्यापक है। अतः बादलोंमें आकाश व्यापक है और बादलोंमें आकाश नहीं है—ये दोनों ही कथन युक्तिसंगत हैं, इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा संसारमें हैं और नहीं भी हैं। जब संसार नहीं था, तब भी वहाँ परमात्मा थे और बादमें जब संसार नहीं रहता, तब भी परमात्मा रहते हैं और बीचकी अवस्थामें भी संसारमें परमात्मा हैं। भाव यह कि सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें—सभी समय परमात्मा सदा ही अपने-आपमें विद्यमान हैं। संसार उत्पन्न होता है और फिर उसका विनाश हो जाता है। किंतु परमात्मा सदा ही एकरूप, एकरस रहते हैं। वास्तवमें तो जिस समय संसार है, उस समय भी परमात्मा अपने-आपमें ही स्थित हैं; किंतु समझानेके लिये यह कहा जाता है कि संसारमें परमात्मा व्यापक हैं। अतः संसारमें परमात्मा व्यापक हैं और संसारमें परमात्मा नहीं हैं—ये दोनों ही कथन युक्तिसंगत हैं, इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है।

यदि बादलोंमें आकाश होता तो बादलोंके नाश होनेपर आकाशके भी उतने हिस्सेका नाश हो जाता, किंतु बादलोंका नाश होनेपर भी आकाशके किसी भी हिस्सेका नाश नहीं होता। इसलिये बादलोंमें आकाश नहीं है, आकाश अपने-आपमें ही स्थित है—यह कहना ही उचित है।

इसी प्रकार परमात्मा यदि संसारमें वास्तवमें होते तो संसारके नाश होनेपर परमात्माके उतने हिस्सेका भी नाश हो जाता; किंतु संसारके नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता, इसलिये संसारमें परमात्मा नहीं हैं, परमात्मा अपने-आपमें ही नित्य स्थित हैं—यह कहना ही उचित है; क्योंकि आकाशमें बादलोंकी भाँति संसार उत्पन्न होता है और फिर उसका विनाश हो जाता है, परंतु परमात्मा सदा ही नित्य अचल एकरूप एकरस रहते हैं।

एवं जिस समय बादल आकाशमें विद्यमान है, उस समय यह कहना कि आकाशके किसी एक अंशमें बादल है, उचित ही है; इसी प्रकार जिस कालमें बादल नहीं है, उस कालमें यह कथन भी कि आकाशमें बादल नहीं हैं, उचित ही है। किंतु जिस कालमें आकाशमें बादल हैं, उस कालमें भी वास्तवमें बादल आकाशमें नहीं हैं; क्योंकि बादल आकाशमें उत्पन्न होते हैं और फिर उनका विनाश हो जाता है। यदि वास्तवमें बादल होते तो सदा रहते। जो वस्तु सदा नहीं रहती, वह अनित्य है; अतः उसके लिये यह कहना अनुचित नहीं कि वह नहीं है।

इसी प्रकार जिस समय यह संसार प्रतीत होता है, उस समय समझानेके लिये यह कथन उचित है कि परमात्माके किसी एक अंशमें संसार है और जिस कालमें (महाप्रलयके समय) संसार नहीं प्रतीत होता है, उस कालमें यह कहना कि परमात्मामें संसार नहीं है, उचित ही है। किंतु जिस कालमें परमात्मामें संसार प्रतीत होता है, उस कालमें भी वास्तवमें संसार परमात्मामें नहीं है; क्योंकि संसार परमात्मामें उत्पन्न होता है और उसका विनाश होता रहता है। यदि वास्तवमें संसार होता तो सदा रहता। जो वस्तु सदा नहीं रहती, वह अनित्य है। अतः जो किसी कालमें तो रहती है और किसी कालमें नहीं रहती, उस अनित्य वस्तुके लिये यह कहना कि वह नहीं है, उचित ही है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(२ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

सार यह कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा इस संसारमें व्यापक (परिपूर्ण) हैं और वे ही इसके परम आधार एवं उपादान और निमित्त कारण हैं। यह संसार परमात्माका संकल्प होनेके कारण परमात्माका स्वरूप ही है। अतएव इस संसारको परमात्माका स्वरूप समझते रहना ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

—★—

परमात्माके आनन्दमय स्वरूपका ध्यान

एकान्त और पवित्र देशमें स्थिरतासे सुखपूर्वक आसन लगाकर बैठे और परमात्माका ध्यान करे। संसारमें ध्यानके समान श्रेष्ठ कोई भी साधन नहीं है। भगवान् कहते हैं—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

(गीता ६ । २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे (सर्वथा) त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

परमात्माका स्वरूप है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्ति० २।१) अर्थात् 'वह ब्रह्म सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।' वह परमात्मा चेतन है। यह सम्पूर्ण संसार उस चेतनके संकल्पमें है। परमात्मा यदि संसारके संकल्पका त्याग कर दे तो केवल एक चेतन परमात्मा ही रह जाय। संसारमें तीन पदार्थ हैं—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। इनमें ज्ञान और ज्ञेय तो जड हैं तथा ज्ञाता चेतन है। जो जाननेमें आता है, उसे 'ज्ञेय' कहते हैं; जिसके द्वारा जाना जाता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जाननेवाला 'ज्ञाता' है। ज्ञातापर ही ज्ञेय और ज्ञान निर्भर करते हैं। ज्ञान और ज्ञेय—ये सब मानी हुई वस्तु हैं। जैसे स्वप्नका संसार माना हुआ है, वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है, केवल संकल्पमात्र है, इसी प्रकार यह दृश्य संसार भी संकल्पमात्र है। यदि वास्तवमें हो तो फिर—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः* ।'

(गीता २।१६)

—इस सिद्धान्तके अनुसार उसका विनाश नहीं होना चाहिये। पर हमारे देखते-देखते सब पदार्थ नष्ट होते जा रहे हैं। इस विनाश-शीलताके कारण ये अनित्य हैं और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं, संकल्पमात्र एवं काल्पनिक हैं। इनकी जो कल्पना करता है, वह चेतन है और वह आत्मा है।

---

* असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है।

आत्मा नित्य चेतनस्वरूप है और जो चेतन है, वही आनन्द है। हमें चेतनता तो प्रतीत होती है, किंतु आनन्द प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ज्ञान और ज्ञेयके साथ आत्माका सम्बन्ध होनेके कारण उस चेतन आत्माका यथार्थ स्वरूप आच्छादित हो रहा है। जैसे सूर्य महान् प्रकाशस्वरूप है, पर बादलोंसे आच्छादित होनेपर वह नहीं दीखता, इसी प्रकार आत्मा चेतनस्वरूप है, परंतु अज्ञानसे आच्छादित होनेके कारण प्रतीत नहीं होता। आत्मा परमात्माका ही अंश है। इसलिये अद्वैतसिद्धान्तसे आत्मा और परमात्मा एक ही वस्तु है। यह आच्छादन अपना माना हुआ है, कल्पनामात्र है। इसका बाध करनेके अनन्तर एक परमात्मा ही रह जाता है।

परमात्मा है, वह महान् है, अनन्त है, असीम है, चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, बोधस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार ध्यान करे। वह परमात्मा इस चराचर संसारके नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है, जैसे बादलोंके नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर आकाश परिपूर्ण है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

(१३। १५ का पूर्वार्द्ध)

'वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।' जैसे आकाश अव्यक्त और निराकार है, वैसे ही परमात्मा भी अव्यक्त और निराकार है; किंतु आकाशके साथ परमात्माकी कोई तुलना वस्तुतः नहीं हो सकती; क्योंकि आकाश जड है और परमात्मा चेतन है, आकाश शून्य है और परमात्मा आनन्दघन है। इसीलिये उसे सत्-चित्-आनन्दघन कहते हैं। सत् माने परमात्मा है। चेतन माने वह ज्ञानस्वरूप है, बोधस्वरूप है। वह चेतन ही आनन्द है। इसलिये उसे 'विज्ञानानन्दघन' कहते हैं।

वह आनन्द आत्यन्तिक सुखरूप है। उस सुखका ज्ञान भी उस

सुखरूप परमात्माको ही है, इसलिये उस सुखरूप परमात्माको ही 'आनन्दमय' कहा गया है। वह आनन्द ही चेतन है और वह चेतन ही आनन्द है। इसलिये उसको 'विज्ञानानन्दघन' कहते हैं। अभिप्राय यह कि उस आनन्दका ज्ञान दूसरे किसीको नहीं है, वह आनन्दमय परमात्मा आप ही अपनेको जानता है। ऐसा वह चिन्मयस्वरूप आनन्दघन है। वह परमात्माका स्वरूप हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब ओर परिपूर्ण है। एक विज्ञानानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है, अर्थात् परमात्माके सिवा संसार कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार संसारका बिलकुल अभाव करके संकल्परहित हो जाना चाहिये। यही उस निर्गुण-निराकार परमात्माका ध्यान है।

भक्तिके मार्गमें तो दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा संसारका छेदन कर देना चाहिये—उसको भुला देना चाहिये, यानी तीव्र वैराग्यके द्वारा संकल्परहित हो जाना चाहिये और ज्ञानके मार्गमें संसारको स्वप्नवत् मानकर उसका इस प्रकार अभाव कर देना चाहिये कि संसार है ही नहीं। बिना हुए ही यह संसार दीखता है। परमात्माका संकल्प होनेके कारण यह सत् दीखने लगा, वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा अपने संकल्पको छोड़ दे तो संसार कहीं है ही नहीं।

अतः ऐसी धारणा करे कि परमात्माने अपने संकल्पको त्याग दिया और इससे सारे संसारका अपने-आप ही अत्यन्त अभाव हो गया। अब केवल एक परमात्मा ही रह गये। उन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है। वह आनन्द चिन्मय आनन्द है, आनन्द-ही-आनन्द है; उस आनन्दके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार समझकर उस आनन्दमय परमात्माका ध्यान करे।

भक्ति-मिश्रित ज्ञानके मार्गमें यों समझे कि परमात्माने सारे संसारका संकल्प तो उठा दिया, किंतु उसके संकल्पमें केवल मैं रह गया हूँ; क्योंकि

मैं परमात्माका ध्यान कर रहा हूँ, इसलिये परमात्मा मेरा ध्यान कर रहे हैं। उनका यह कथन है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्द्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' अर्थात् जो मेरा ध्यान करते हैं, उनका मैं ध्यान करता हूँ।

जब परमात्मा मेरा ध्यान छोड़ देंगे, तब मेरी जगह भी एक चिन्मय परमात्मा ही रह जायँगे; क्योंकि पहलेसे सदा-सर्वदा चिन्मय परमात्मा ही सर्वत्र हैं। 'सर्वत्र' कहनेसे देशकी कल्पना होती है। वह देश भी परमात्माके संकल्पमें ही है; परमात्मामें वस्तुतः कोई देश नहीं है। परमात्मा सदा-सर्वदा नित्य है, यह कथन कालका वाचक है। यह काल भी परमात्माके संकल्पमें ही है। परमात्मा वास्तवमें देश-कालसे रहित हैं। साधनकालमें जो देश और कालकी प्रतीति हो रही है, यह परमात्माका संकल्प होनेके कारण उनका स्वरूप ही है, वस्तुतः उनसे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। केवल एक निर्विशेष ब्रह्म है, जिसे हम सच्चिदानन्दघन कहते हैं; बस, उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।

इसलिये ध्यानके साधनमें हमलोगोंको ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि यह विज्ञानानन्दघन परमात्मा हमारे चारों ओर परिपूर्ण है। 'हमारे' शब्दका अभिप्राय हमारा शरीर है। वह परमात्मा इस शरीरके चारों ओर परिपूर्ण है। वास्तवमें तो शरीर है ही नहीं, उसकी जगह परमात्मा ही है। परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जैसे बादलके चारों ओर एक आकाश-ही-आकाश है। वास्तवमें बादल उसी आकाशसे उत्पन्न होता है और उसीमें विलीन हो जाता है। अतः आकाशसे भिन्न बादलकी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं है। इसलिये एक आकाश ही है, ऐसे ही परमात्माके अतिरिक्त और किसीकी सत्ता है ही नहीं; एक परमात्मा ही है। बादलकी-ज्यों तो यह

शरीर है और आकाशकी-ज्यों परमात्मा है। बल्कि परमात्मा आकाशसे सर्वथा अत्यन्त ही विलक्षण है। आकाश जड है, परंतु परमात्मा चेतन है, बोधस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। जो आनन्द है, वही बोध है; और जो बोध है, वही आनन्द है। इसलिये आनन्द और बोध भी दो वस्तु नहीं है। वह आनन्द इस लौकिक आनन्दसे विलक्षण है, इसी बातको समझानेके लिये यह कहा जाता है कि वह विलक्षण आनन्द है, अलौकिक आनन्द है, अद्भुत आनन्द है, चिन्मय आनन्द है, ज्ञानस्वरूप आनन्द है, बोधस्वरूप आनन्द है।

वह आनन्दमय परमात्मा अपने ही द्वारा आप परिपूर्ण है, इसलिये उसको 'पूर्ण आनन्द' कहते हैं। उसकी सीमा नहीं है, इसलिये उसे 'अपार आनन्द' कहते हैं। उसका स्वरूप शान्तिमय है, इसलिये वह 'शान्त आनन्द' कहलाता है। वह आनन्द अत्यन्त घन है, प्रचुर है, उसमें किसी दूसरेकी गुंजाइश नहीं है; इसलिये उसको 'घन आनन्द' कहते हैं। वह अटल है, अचल है, इसलिये उसे 'ध्रुव आनन्द' कहते हैं। वह सदा रहता है, इसलिये उसे 'नित्य आनन्द' कहा जाता है। उसका कभी अभाव नहीं होता, वह वास्तवमें है , इसलिये उसे 'सत् आनन्द' कहते हैं। वह आनन्द चेतन है, इसलिये उसे 'बोधस्वरूप आनन्द', 'ज्ञानस्वरूप आनन्द' कहते हैं। वह नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है, इसलिये उसको 'सम आनन्द' कहते हैं। उसका कोई चिन्तन नहीं कर सकता, वह किसीके चिन्तनका विषय नहीं है; इसलिये उसको 'अचिन्त्य आनन्द' कहते हैं। उसका चिन्तन होता ही नहीं, यह समझना ही उसको जानना है। हम जो विज्ञानानन्दघनका चिन्तन करते हैं और हमारे चिन्तनमें जो स्वरूप आता है, वास्तवमें उससे आनन्दमय परमात्माका स्वरूप बहुत ही विलक्षण है। बुद्धिके द्वारा तो उसी स्वरूपका चिन्तन होता है, जो बुद्धिसे मिला हुआ हो। इसलिये बुद्धि-विशिष्ट ब्रह्मस्वरूपका ही चिन्तन होता है यानी जो

बुद्धिग्राह्य है, उसीका बुद्धिसे चिन्तन होता है। इसीलिये उसे '**बुद्धिग्राह्यम्**' (गीता ६। २१) अर्थात् वह सूक्ष्म होनेके कारण बुद्धिके द्वारा समझमें आता है, ऐसा कहा गया है।

वह महान् है, इसलिये उसे 'महान् आनन्द' कहते हैं। वह सबसे श्रेष्ठ है, इसलिये उसको 'परम आनन्द' कहते हैं। चेतन ही उसका स्वरूप है, इसलिये उसे 'चिन्मय आनन्द' कहते हैं। जो चेतन है, वही आनन्द है और जो आनन्द है, वही चेतन है। ऐसा जो आनन्दमय परमात्माका स्वरूप है, उस आनन्दमयस्वरूपमें साधकको नित्य-निरन्तर निमग्न रहना चाहिये।

अपार आनन्द है, महान् आनन्द है, आनन्द-ही-आनन्द है। एक आनन्दके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। ऐसे आनन्दमें मस्त रहना चाहिये।

साधकको चलते-फिरते समय इस प्रकारका अभ्यास करना चाहिये कि यह शरीर आनन्दमय परमात्मामें ही चल रहा है—विचरण कर रहा है। जैसे आकाशमें बादल चल रहे हैं, ऐसे ही आनन्दमय परमात्मामें यह शरीर चल रहा है। बादल आकाशसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है; क्योंकि आकाशसे ही बादलकी उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार परमात्मासे ही शरीरकी उत्पत्ति हुई है; क्योंकि परमात्माका संकल्प ही तो शरीर है। इसलिये यह शरीर भी परमात्मासे कोई पृथक् वस्तु नहीं। आकाशमें बादलकी भाँति परमात्मामें ही यह परमात्माका संकल्परूप शरीर विचरण कर रहा है। वह परमात्मा आनन्दमय है, चिन्मय है, विज्ञानानन्दघन है। उसके सिवा और कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार हर समय उत्तरोत्तर साधनको तेज करना चाहिये।

ध्यानकालमें साधकको प्रत्यक्षकी भाँति ऐसा अनुभव करना चाहिये—'अहो ! कैसी शान्ति हो रही है। शान्तिके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। परमात्मा ही शान्तिके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं। अहो ! कैसी ज्ञानकी बहुलता है। ज्ञान-ही-ज्ञान है। ज्ञानके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही नहीं। परमात्मा ही ज्ञानके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं। अहो ! कैसी चेतनता है। चेतनताके सिवा

दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। परमात्मा ही चेतनके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं। अहो ! कैसा आनन्द है। हम देखते हैं कि हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर सबके बाहर-भीतर एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण हो रहा है अर्थात् हमारे रोम-रोममें, अणु-अणुमें सब जगह आनन्दमय परमात्मा ही प्रत्यक्ष परिपूर्ण हो रहे हैं और शरीरकी यह आकृति केवल कल्पनामात्र है। वास्तवमें आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्दके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। ऐसे आनन्दमें निरन्तर निमग्न रहना चाहिये। वह आनन्द ही शान्तिके रूपमें दीख रहा है। वह आनन्द ही ज्ञानके रूपमें दीख रहा है और आनन्द ही चेतनके रूपमें दीख रहा है। ये सब उसके पर्याय हैं। वास्तवमें यह सब उस आनन्दमय परमात्माका ही स्वरूप है।'

आनन्दमय ! आनन्दमय !! आनन्दमय !!! पूर्ण आनन्द ! अपार आनन्द ! शान्त आनन्द ! घन आनन्द ! अचल आनन्द ! ध्रुव आनन्द ! नित्य आनन्द ! बोधस्वरूप आनन्द ! ज्ञानस्वरूप आनन्द ! परमानन्द ! महान् आनन्द ! सम आनन्द ! आत्यन्तिक आनन्द ! अचिन्त्य आनन्द ! आनन्द-ही-आनन्द ! आनन्द-ही-आनन्द !! आनन्द-ही-आनन्द !!! ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

मुक्तिका स्वरूप-विवेचन

आत्मा सुखस्वरूप है। प्राणिमात्र सुखकी ही अभिलाषा करते हैं। दुःखी होना कोई नहीं चाहता। **'सुखं मे भूयात्, दुःखं मे मा स्म भूत्'** (हमें सुख-ही-सुख हो, दुःखका हम कदापि अनुभव न करें) यही सबकी इच्छा रहती है। अनुकूलतामें सुख है और प्रतिकूलतामें दुःख है। इसीलिये शास्त्रोंमें सुख-दुःखकी परिभाषा करते हुए कहा है—**'अनुकूलवेदनीयं सुखम्। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्,** (तर्कसंग्रह)। वर्तमानमें अपनी स्थितिसे

प्रायः किसीको सन्तोष नहीं है। किसीके पास सौ रुपये हैं वह चाहता है मेरे पास हजार रुपये हो जायँ। हजारवाला लाखकी इच्छा करता है, लाखवाला करोड़की और करोड़ रुपयेवाला राजा होनेकी इच्छा करता है। राजा चक्रवर्ती बनना चाहता है, चक्रवर्ती इन्द्रके पदकी अभिलाषा करता है। तात्पर्य यह कि सभी अधिक-से-अधिक सुख चाहते हैं। अल्पसे किसीको सन्तोष नहीं है। श्रुति भी कहती है—'**नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्**।' (छान्दोग्य० ७।२३।१) 'अल्पमें सुख नहीं है, असीम ही सुखरूप है।' तात्पर्य यह कि हम सभी निरवधि, निरतिशय सुख चाहते हैं—ऐसा सुख चाहते हैं जिसका कभी अन्त न हो, जिसमें दुःखका सम्मिश्रण न हो और जो पूर्ण हो अर्थात् जिससे बढ़कर कोई दूसरा सुख न हो। इस प्रकारके सुखकी खोज जीवको सदा ही बनी रहती है। जबतक जीवको यह अनन्त सुख प्राप्त नहीं होता, तबतक उसका भटकना बंद नहीं होता। यह अनन्त सुख ही जीवका असली लक्ष्य है। इसीको मुक्ति, मोक्ष, परमपुरुषार्थ या निःश्रेयस कहते हैं। इसे पाकर जीव कृतकृत्य हो जाता है, उसके लिये और कुछ करना अथवा पाना बाकी नहीं रह जाता। यही सुखकी परम सीमा है, यही परमगति है।

इस संघर्षमय, कोलाहलमय जीवनके पीछे एक ऐसी सुखमय स्थिति है—जहाँ पहुँचनेपर सब समस्याएँ अपने-आप हल हो जाती हैं, सारे दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, सारे क्लेश-कर्म, शोक-सन्ताप, चिन्ता एवं भय विलीन हो जाते हैं—इस बातको तो सभी आस्तिक-नास्तिक सम्प्रदाय मानते हैं। परन्तु उसके स्वरूपके सम्बन्धमें बहुत मतभेद है। कुछ लोग तो स्वर्गको ही सुखकी अवधि मानते हैं। किन्तु इस सुखका भी नाश हो जाता है, यह अविनाशी नहीं है। यद्यपि वेदोंमें '**अपाम सोमममृता अभूम**' (अथर्वशिर्ष-उप० ३) 'हमने सोमयज्ञ करके सोमपान किया और अमर हो गये'—इत्यादि श्रुतियाँ मिलती हैं, परन्तु सोमयागादिसे प्राप्त होनेवाला यह अमरत्व (देवत्व) हमारी अपेक्षा दीर्घकालस्थायी होनेपर

भी है आपेक्षिक ही। देवताओंकी आयु हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत लम्बी होनेपर भी, उसका एक दिन अन्त होता है। जिन पुण्योंसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है, उनका भोगद्वारा क्षय हो जानेपर जीव स्वर्गलोकसे ढकेल दिये जाते हैं और उन्हें पुनः मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है—'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**' (गीता ९।२१)। गीतामें अन्यत्र भी कहा है कि ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् उत्पन्न होने और नष्ट होनेवाले हैं (८।१६); उनमें रहनेवाले जीव निश्चित अवधिके बाद पुनः मर्त्यलोकमें ढकेल दिये जाते हैं। दूसरे, स्वर्गादि ऊपरके लोकोंमें, अव्यवहित सुख होनेपर भी उसमें तारतम्य अवश्य होता है। देवताओंमें भी जिनका पुण्य अधिक होता है, उनकी आयु अधिक लम्बी होती है; अन्य बहुत-से देवताओंकी अपेक्षा देवराज इन्द्रकी आयु बहुत अधिक होती है और उन्हें भोग भी अन्य देवताओंकी अपेक्षा कई गुने अधिक प्राप्त होते हैं। इस तारतम्यको लेकर वहाँके जीवोंको एक-दूसरेके प्रति ईर्ष्या और अभिमान होते हैं और इन ईर्ष्यादिसे वे जलते रहते हैं। ईर्ष्याके साथ-साथ उन्हें अधिक सुखकी कामना भी सताती रहती है और साथ ही हमारा यह सुख छिन न जाय, इसका भय भी बना रहता है। इन्द्रको भी अपने इन्द्रासनके छिन जानेका भय सदा ही बना रहता है, अतः पृथ्वीके किसी भी जीवको वे उग्र तपस्या करते पाते हैं तो उनके मनमें यह शङ्का उत्पन्न हो जाती है कि कदाचित् यह पुरुष हमारा आसन लेनेके लिये ही तप कर रहा है। इसलिये वे प्रायः इस प्रकारके तपस्वियोंको तपसे डिगानेकी चेष्टामें लगे रहते हैं और उनकी तपस्यामें विघ्न डालते देखे जाते हैं। ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वर्गसुख पृथ्वीके जीवोंकी दृष्टिमें बहुत बड़ी चीज होनेपर भी निरवधि एवं पूर्ण नहीं है। अतः पूर्ण सुख चाहनेवालोंके लिये वह भी अभीष्ट नहीं हो सकता।

वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म ही निरतिशय पूर्ण सुखस्वरूप है।

ब्रह्मका अभेदरूपसे साक्षात्कार हो जानेपर जीव सदाके लिये सब प्रकारके दुःखों एवं बन्धनोंसे मुक्त होकर परमानन्द एवं परम शान्तिको प्राप्त होता है। उसे फिर जन्म-मृत्युका भय नहीं रहता। वह हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंसे छूट जाता है—**'हर्षशोकौ जहाति'** (कठ० १।२।१२)। उसका अज्ञान सदाके लिये नष्ट हो जाता है—उसकी अविद्यारूप ग्रन्थि खुल जाती है, वह सन्देहरहित हो जाता है, उसके सब प्रकारके क्लेश-कर्म नष्ट हो जाते हैं। उसका संसारमें कोई कर्तव्य नहीं रह जाता।

भेदरूपसे परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर भी मनुष्य जन्म-मृत्युके बन्धन तथा सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त होकर सगुण भगवान्‌के अप्राकृत नित्य धाममें अप्राकृत देहसे निवास करता है और वह भगवान्‌की सन्निधिके सुखका अनुभव करता है। भेदोपासनासे प्राप्त होनेवाली इस मुक्तिके सालोक्य (भगवान्‌के लोकमें निवास), सामीप्य (भगवान्‌की सन्निधिमें निवास), सारूप्य (भगवान्‌के समान रूपकी प्राप्ति) तथा सायुज्य (भगवान्‌में विलीन होना)—ये चार भेद हैं। उक्त चार प्रकारकी मुक्तिमेंसे किसीको भी प्राप्त कर जीव जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूट जाता है और सदा निरतिशय आनन्दका अनुभव करता है।

सभी मनुष्योंके लिये यह निरतिशय सुख ही प्रार्थनीय है—यही जीवनका अन्तिम लक्ष्य है। इसीको प्राप्त करनेके लिये भगवान् हमें मनुष्य-शरीर देते हैं; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें ही इसके लिये साधन बन सकता है, अन्य योनियोंमें नहीं। अतः मनुष्य-शरीर पाकर हमें इसीके लिये यत्न करना चाहिये। इसे प्राप्त करनेमें ही मनुष्य-देहकी चरितार्थता है। अन्यथा भोगसुख तो हमें पशु, पक्षी आदि अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। भोगोंसे यदि हमारी तृप्ति हो सकती होती तो कबकी हो गयी होती; क्योंकि अबतक हमने न जाने कितनी बार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लिया है और कितने असंख्य भोग भोगे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भोगोंमें सुख नहीं है, भोगोंके

त्यागमें ही सुख है। अतः हमें भोगोंकी आसक्ति छोड़कर निष्काम कर्म, भक्ति अथवा ज्ञानके द्वारा उपर्युक्त स्थितिको प्राप्त करनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये और इसी जन्ममें अपना काम बना लेना चाहिये; क्योंकि फिर न जाने यह दुर्लभ अवसर हमको कभी मिले या न मिले। मनुष्यजन्मको शास्त्रोंमें देवदुर्लभ बतलाया गया है। नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता हुआ यह जीव जब अत्यन्त थक जाता है, तब भगवान् इसपर दया करके इसे मनुष्य-शरीर देते हैं और इस प्रकार उसे जन्म-मृत्युसे छूटनेका सुन्दर अवसर प्रदान करते हैं। परन्तु यह जीव कृतघ्नकी भाँति इस अवसरको हाथसे खो देता है और अन्तमें पछताता है। परन्तु फिर पछतानेसे क्या होता है ?

इस मुक्तिके सम्बन्धमें लोगोंके मनमें कई प्रकारकी शङ्काएँ उठा करती हैं। कुछ लोग मुक्तिको अपुनरावर्तनकी स्थिति नहीं मानते। उनकी मान्यता यह है कि मुक्त पुरुष महाप्रलयपर्यन्त संसारमें नहीं लौटते अर्थात् उनकी वह स्थिति महाप्रलयतक कायम रहती है। महाप्रलयके बाद जब पुनः सृष्टि उत्पन्न होती है अर्थात् महासर्गके आदिमें मुक्त जीव पुनः संसारमें लौट आते हैं। इसके लिये वे युक्ति यह पेश करते हैं कि यदि मुक्त जीव कभी न लौटें तो एक दिन सब जीव मुक्त हो जायँगे और यह संसार फिर रह ही नहीं जायगा, बल्कि जब यह सृष्टि अनादिकालसे चली आयी है तो अबतक सब जीवोंको मुक्त हो जाना चाहिये था। किन्तु अबतक संसारका अभाव नहीं हुआ, इससे तो यही मालूम होता है कि मुक्त जीव महासर्गके आदिमें पुनः लौट आते हैं और इस प्रकार संसारका क्रम बराबर चलता रहता है।

इसका उत्तर यह है कि यदि मुक्तिकी भी अवधि मानी जाय तो फिर स्वर्गमें और मोक्षमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। जिस प्रकार स्वर्गस्थ जीवोंकी आयु हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक होनेपर भी उसका एक दिन अन्त हो जाता है, उसी प्रकार ऐसी मुक्तिकी भी अवधि इन्द्रादि देवताओंकी आयुकी अपेक्षा बहुत अधिक होनेपर भी उसकी भी समाप्ति हो जाती है।

निरवधि सुख उसे भी नहीं कह सकते। अतः वह स्थिति भी आपेक्षिक एवं अन्तवाली होनेके कारण त्याज्य ही ठहरती है, वह भी गतागतरूप ही कहलायेगी। ऐसी दशामें अनन्त सुखकी कल्पना जीवके लिये स्वप्नवत् ही सिद्ध होती है। उसकी वह अभिलाषा मृगतृष्णारूप ही ठहरती है। वह कभी पूर्ण नहीं होनेकी। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जीव अनन्त कालतक भटकता ही रहेगा, उसका भटकना कभी बंद नहीं होगा। वह कभी अनन्त सुखका भागी नहीं हो सकेगा। अतः ऐसा मानना ठीक नहीं। श्रुति भी कहती है—

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥'

(छान्दोग्य० ८। १५। १)

यथा भगवान् गीतामें भी कहते हैं—

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।'

(८। १६)

'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥'

(५। १७)

यदि केवल युक्तिके आधारपर इसका निर्णय करें तो युक्ति भी हमारे पक्षका ही समर्थन करती है। थोड़ी देरके लिये यदि यह मान लिया जाय कि दोनों पक्ष सन्दिग्ध हैं, मुक्त जीव लौटते हैं या नहीं—यह विवादास्पद है तो भी यही मानना कि मुक्त जीव लौटते नहीं, अधिक लाभदायक, युक्तियुक्त, सर्वोत्तम एवं सुरक्षित है। हम यदि यह मानते हैं कि मुक्त जीव कभी लौटते नहीं, वे सदाके लिये जन्म-मरणके चक्करसे छूट जाते हैं, अक्षय सुखके भागी हो जाते हैं, तो हम इस आशा और विश्वासपर उक्त स्थितिके लिये प्राणपणसे चेष्टा करेंगे। और यदि ऐसी स्थिति वास्तवमें मिलती होगी और हमारा प्रयत्न ठीक तौरसे जारी रहा तो वह स्थिति हमें एक दिन इसी जन्ममें—यदि कमी रही तो दूसरे किसी जन्ममें—अवश्य प्राप्त हो जायगी।

थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म न माननेवाले भूल करते हैं। किन्तु इस भूलसे उनकी हानि ही क्या है? क्योंकि इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरागमन माननेवाला भी वापस आयेगा और न माननेवाला भी। फल दोनोंका एक ही होगा। परन्तु कदाचित् मुक्त पुरुषका पुनरागमन नहीं होता—यही सिद्धान्त सत्य हो, तब तो भूलसे पूर्वोक्त पुनरावृत्तिरूप मुक्ति माननेवालेकी बड़ी भारी हानि होगी। कारण, इस पुनरागमन माननेवालेको वह अपुनरावृत्तिरूप परमगति तो कभी मिल ही नहीं सकती; क्योंकि इस आत्यन्तिक स्थितिमें उसका विश्वास ही नहीं है। यदि हम यह मानते हैं कि मुक्ति प्राप्त हो जानेपर भी हमें संसारमें लौटना ही होगा तो फिर हम उस वास्तविक मुक्तिसे—जिसका कभी अन्त नहीं होता—वञ्चित ही रह जायँगे, वह कभी हमें मिलनेकी ही नहीं; क्योंकि जिस स्थितिमें हमारा विश्वास ही नहीं है, वह स्थिति हमें कैसे मिल सकती है। उसके लिये प्रथम तो हम चेष्टा ही नहीं करेंगे और करेंगे भी तो पूरे जोरसे नहीं करेंगे, अतः उसमें सफल नहीं होंगे। हमें मुक्ति मिलेगी भी तो उसी कोटिकी मिलेगी, जिस कोटिकी मुक्तिमें हमारा विश्वास है। अपुनरावर्तनकी स्थिति हमें कभी प्राप्त नहीं होनेकी।

रही यह आशङ्का कि मुक्त जीव यदि लौटते नहीं तो फिर एक दिन अशेष जीव मुक्त हो जायँगे और संसारका अभाव हो जायगा तो इसमें हमारी क्या हानि है। प्रथम तो जितने जीव संसारमें हैं, उनके मुकाबलेमें मुक्त होनेवाले जीवोंकी संख्या समुद्रमें बूँदके समान भी नहीं है; क्योंकि मुक्तिका अधिकार केवल मनुष्योंको ही प्राप्त है और मनुष्योंकी संख्या बहुत ही परिमित है। वर्तमान युगमें मनुष्योंकी संख्या कुल मिलाकर तीन अरबसे अधिक नहीं है और मनुष्योंमें भी—जैसा भगवान् श्रीकृष्णने गीता (७।३) में कहा है—हजारोंमें कोई एक मुक्तिरूप सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमें भी हजारोंमें कोई एक सफलप्रयत्न

होता है। इसके मुकाबलेमें जब हम मनुष्येतर प्राणियोंकी संख्याकी ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें मालूम होता है कि अखिल भूमण्डलमें जितने मनुष्य हैं, उनसे अधिक चींटियाँ तो शायद एक साधारण वनमें ही होंगी। एक चींटियोंकी संख्यासे ही मुकाबला करनेमें मनुष्योंकी संख्या उसके सामने सरोवरके जलमें बूँदके समान ठहरती है। फिर अखिल ब्रह्माण्डके समस्त चराचर जीवोंकी संख्यासे मुक्त होनेवाले जीवोंकी संख्याका मुकाबला किया जाय तो वह समुद्रके जलमें बूँदके समान भी नहीं ठहरेगी। ऐसी दशामें यह शङ्का करना कि जीवोंके मुक्त होनेका क्रम जारी रहनेपर और मुक्त जीवोंके पुनः संसारमें न लौटनेपर जीवोंकी संख्या एक दिन समाप्त हो जायगी, वैसा ही है जैसा यह शङ्का करना कि एक चींटीके जल उलीचते रहनेसे समुद्रका जल एक दिन निःशेष हो जायगा। और थोड़ी देरके लिये यदि मान लिया जाय कि ऐसा हो ही जायगा तो यह तो हमें इष्ट ही होना चाहिये; क्योंकि आजतक अनेक श्रेष्ठ पुरुष इससे पूर्व ऐसी चेष्टा कर चुके हैं, महात्मागण अब भी कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। यदि किसी दिन उनका परिश्रम सफल हो जाय और अखिल जगत्‌के जीवोंका उद्धार हो जाय तो बहुत ही अच्छी बात है, इससे सिद्धान्तमें कौन-सी बाधा है ? हमारे पूर्वज ऋषियोंने प्राणिमात्रके लिये यही प्रार्थना की है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

'सभी लोग सुखी हों, सब नीरोग रहें, सबको कल्याणकी प्राप्ति हो, कोई भी दुःखका भागी न हो।'

मुक्तिके सम्बन्धमें दूसरी शङ्का यह उपस्थित की जाती है कि शरीर रहते मनुष्य मुक्त हो सकता है या नहीं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीवन रहते मुक्ति असम्भव है। किन्तु श्रुति, स्मृति, गीता आदि ऐसा नहीं मानते और उनका यह सिद्धान्त सप्रमाण एवं सयुक्तिक भी है। **'अत्र ब्रह्म समश्नुते'**

(बृ० उ० ४।४।७)—इसी जन्ममें ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—आदि श्रुतियाँ तथा **'इहैव तैर्जितः सर्गः'** (गीता ५।१९)—इसी जीवनमें उनके द्वारा जन्म-मरणरूप संसार जीत लिया गया है— आदि भगवद्वाक्य इस बातके पोषक हैं। इतिहासमें भी ऐसे अनेक याज्ञवल्क्य, अश्वपति आदि जीवन्मुक्त महापुरुषोंका वर्णन मिलता है, जो संसारमें रहते हुए भी संसारसे पुष्करपलाशवत् (कमल-पत्रके समान) सर्वथा निर्लेप रहते थे, अर्थात् शरीरमें रहते हुए भी वास्तवमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों प्रकारके आवरणोंसे मुक्त थे और वे अनुकूल, प्रतिकूल घटनाओंके प्राप्त होनेपर भी हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा शून्य रहते थे। भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें 'स्थितप्रज्ञ' के नामसे, बारहवें अध्यायमें 'भक्तों'के नामसे एवं चौदहवें अध्यायमें 'गुणातीत' के नामसे ऐसे ही पुरुषोंके लक्षणोंका विशदरूपमें वर्णन किया गया है। अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी इस प्रकारके पुरुषोंके लक्षणोंका यथेष्ट वर्णन मिलता है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी मनुष्यके अन्तःकरणमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, राग-द्वेष आदि विकार रह सकते हैं और उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार एवं मद्यपानादि निषिद्ध आचरण भी हो सकते हैं। हमारी समझसे ऐसा मानना ठीक नहीं है। अवश्य ही ज्ञानी विधि-निषेधसे ऊपर उठ जाता है, उसके लिये कोई कर्तव्य-कर्म नहीं रह जाता; परन्तु उसके द्वारा निषिद्ध कर्म होनेका कोई हेतु नहीं रहता। निषिद्ध आचरणकी तो बात ही क्या है, शास्त्र और युक्ति दोनोंसे ही यह सिद्ध होता है कि ज्ञानीके अन्तःकरणमें काम-क्रोधादि विकार भी नहीं रह सकते; क्योंकि निषिद्ध कर्म होते हैं कामनासे (गीता ३।३७), कामनाका मूल है आसक्ति और आसक्तिका कारण है अज्ञान। ऐसी दशामें यदि ज्ञानीके अंदर भी आसक्ति मानी जायगी तो फिर ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर ही क्या रह जायगा ? ज्ञानीकी तो बात ही क्या है, काम-

क्रोध आदिका तो साधकको भी त्याग करना पड़ता है; तभी वह कल्याण-साधनके योग्य बनता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(१६। २१-२२)

'काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त अर्थात् काम, क्रोध और लोभ आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको अर्थात् मुझे प्राप्त होता है।'

अन्यत्र ज्ञानी पुरुषोंके लिये भी '**कामक्रोधवियुक्तानाम्**' (गीता ५। २६) (काम-क्रोधरहित) विशेषणका प्रयोग हुआ है। यही नहीं, ज्ञानी पुरुषके तो रागका भी नाश हो जाता है, जो कामका मूल है—'**रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**' (गीता २। ५९)। ऐसी हालतमें ज्ञानी पुरुषके द्वारा निषिद्ध आचरण होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। अतः ज्ञानी पुरुषके अंदर काम, क्रोध आदि कोई भी विकार नहीं रहते और उसके द्वारा पापकर्म भी नहीं बन सकते—यही सिद्धान्त मानना चाहिये।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वर्तमान काल मुक्तिके अनुकूल नहीं है, कलियुगमें जीवोंकी मुक्ति नहीं हो सकती; तथा दूसरे लोग यह मानते हैं कि मुक्तिका अधिकार केवल गृहत्यागी संन्यासियोंको ही है, अन्य आश्रमवालोंको नहीं है। यह सिद्धान्त भी युक्तियुक्त नहीं मालूम होता। कलियुगकी तो शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है—

स्वल्पेनैव प्रयत्नेन धर्मः सिद्ध्यति वै कलौ।

(विष्णुपुराण ६। २। ३४)

****

'कलियुगमें थोड़े-से प्रयाससे ही धर्म सिद्ध हो जाता है।'

अन्य युगोंमें जो काम ध्यान, यज्ञ एवं पूजासे होता था, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नामसे हो जाता है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५२)

गोस्वामी तुलसीदासजी शास्त्रवचनोंका ही अनुवाद करते हुए कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

ऐसी स्थितिमें यह मानना कि कलियुगमें मुक्ति नहीं हो सकती, शास्त्रोंकी मान्यताकी अवहेलना करना और अपने लिये मुक्तिका द्वार बंद करना है; क्योंकि जो लोग कलियुगमें मुक्ति नहीं मानते, वे मुक्तिके लिये प्रयास ही नहीं करेंगे और यदि शास्त्र-वचन सत्य हुए और मुक्ति इस युगमें सम्भव हुई तो वे उससे वञ्चित ही रह जायँगे। इसके विपरीत जिनका यह विश्वास है कि इस युगमें मुक्ति सम्भव है, वे उसके लिये पूरी चेष्टा करेंगे और चेष्टा ठीक हुई तो उसे पा भी जायँगे। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये कि इस युगमें मुक्ति सम्भव नहीं है, तब भी उन्हें कोई नुकसान तो होगा ही नहीं। उनका जीवन शान्तिसे बीतेगा, वे दुर्गुण एवं दुराचारोंसे बचे रहेंगे; फलतः नवीन पाप न होनेसे उनका भविष्य भी सुखमय होगा, संसारमें उनकी प्रतिष्ठा होगी, धर्मकी मर्यादा स्थापित होगी और इस दृष्टिसे उनके द्वारा लोक-कल्याण तो होगा ही। ऐसी हालतमें वे सब तरहसे लाभ-ही-लाभमें रहेंगे। अतः शास्त्र और युक्ति दोनोंकी ही दृष्टिसे यही मानना ठीक है कि इस युगमें मुक्ति सम्भव है और ऐसा मानकर उसके साधनमें प्राणपणसे लग जाना चाहिये। मुक्तिके लिये ज्ञान और भक्ति—यही दो मुख्य साधन हैं और उनके अभ्यासके लिये कोई भी देश अथवा काल

बाधक नहीं हो सकता। वर्तमान युगमें भी अनेकों ज्ञानी महात्मा तथा उच्च कोटिके भक्त संसारमें हो चुके हैं और आज भी ऐसे पुरुषोंका संसारमें अभाव नहीं है।

अब रही यह शङ्का कि गृहस्थोंको मुक्ति प्राप्त हो सकती है या नहीं। इस विषयमें भी सनातन वैदिक सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक एवं उदार है। इस सिद्धान्तके अनुसार मुक्ति अथवा भगवत्प्राप्तिका अधिकार मनुष्यमात्रको है। किसी खास वर्ण, किसी खास आश्रम, किसी खास जाति अथवा किसी खास सम्प्रदायको माननेवाले ही मोक्षके अधिकारी हों—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ज्ञान और भक्ति ही मुक्तिके प्रधान साधन हैं और इनका अभ्यास सभी वर्ण, सभी आश्रम, सभी जाति एवं सभी सम्प्रदायके लोग कर सकते हैं। जीवमात्र भगवान्‌की सन्तान हैं—उनके सनातन अंश हैं; अतः सभी उन्हें प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। मनुष्येतर प्राणियोंमें बुद्धि एवं विवेक नहीं है, साधनकी योग्यता नहीं है; इसीलिये वे इस परम लाभसे वञ्चित रह जाते हैं। अन्यथा भगवान्‌के दरबारमें तो उनके लिये भी किसी प्रकारकी रोक-टोक नहीं है, उनका द्वार जीवमात्रके लिये खुला है, उनका वरद हस्त सभीके ऊपर समानरूपसे है। सभी जीव उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं। अन्य जीवोंके लिये यदि किसी प्रकार यह सम्भव हो जाय कि वे ज्ञान अथवा भक्तिका साधन कर सकें तो वे भी मुक्तिसे वञ्चित नहीं रह सकते। वानर-भालू तथा गृध्र-कौआ आदि निकृष्ट जन्तु भी उनकी कृपाको प्राप्तकर कृतार्थ हो गये, तरन-तारन बन गये—फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या। मनुष्योंमें भी स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डालादिकोंको भी भगवान्‌ने परम गतिका अधिकारी बतलाया है (गीता ९। ३२); फिर ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंकी तो बात ही क्या है। स्त्रियोंमें भक्तशिरोमणि गोपियों, वैश्योंमें नन्दादि गोपों, शूद्रोंमें संजय आदि तथा पापयोनियोंमें गुह-निषाद आदिके उदाहरण इतिहासप्रसिद्ध ही हैं।

अवश्य ही गृहस्थोंकी अपेक्षा संन्यासियोंके लिये मुक्ति प्राप्त करना सुगम है; परन्तु गृहस्थोंको मुक्तिका अधिकार दिया ही नहीं गया है, ऐसा मानना तो सरासर भूल है। जनकादि राजर्षियोंके लिये भगवान्ने स्वयं कहा है कि उन्होंने कर्मके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त किया (गीता ३।२०)। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि अपने-अपने कर्मोंमें रत रहता हुआ ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर लेता है (गीता १८।४५-४६)। यही नहीं, कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि अग्नि तथा कर्ममात्रका त्याग करनेवाला ही संन्यासी नहीं है; जो कर्मफलके आश्रयका त्याग करके अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मका पालन करता है, वह संन्यासी और योगी है (गीता ६।१)। ऐसी स्थितिमें यह मानना कि गृहस्थोंको मुक्तिका अधिकार नहीं है, शास्त्रसम्मत कदापि नहीं कहा जा सकता।

रह गयी युक्तिकी बात, सो युक्ति भी हमारे ही पक्षका समर्थन करती है। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि गृहस्थोंके लिये मुक्तिकी प्राप्ति निश्चित नहीं है। ऐसी दशामें भी हमारे लिये तो यही मानना श्रेयस्कर है कि गृहस्थोंको भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है; क्योंकि, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, मुक्ति न मिलनेपर भी यदि हम उसके लिये यत्न करते रहे तो हमारी कोई क्षति तो होगी ही नहीं, बल्कि सब प्रकारसे हम लाभहीमें रहेंगे, हमारे जीवनका उत्तम-से-उत्तम उपयोग होगा—समय अच्छे-से-अच्छे काममें बीतेगा और यदि मुक्तिका मिलना सम्भव हुआ और हम यह मानकर कि गृहस्थ होनेके कारण हम मुक्तिके अधिकारी नहीं हैं उसकी ओरसे उदासीन रहे, साधनमें तत्पर नहीं हुए तो हमारी बड़ी भारी हानि हो जायगी। हमें तो फिर इस जीवनमें गृहस्थाश्रममें रहते हुए मुक्ति मिलनेकी नहीं और अगले जन्मका कोई भरोसा नहीं—न मालूम मरनेके बाद हमें कौन-सी योनि मिले। श्रुति भगवती भी कहती है—'**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**' (केन० २।५) (इसी जन्ममें यदि परमात्माका

ज्ञान हो गया तब तो ठीक है, नहीं तो बड़ी भारी हानि होगी)। इसलिये इसी जन्ममें और जिस किसी वर्ण अथवा आश्रममें तथा जिस किसी स्थितिमें हम हैं, उसी वर्ण-आश्रम तथा उसी स्थितिमें रहते हुए हम भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय कर हमें मुक्तिके साधनमें लग जाना चाहिये। सच्चे सङ्कल्पमें बड़ा बल होता है। हमारा अध्यवसाय दृढ़ रहा और भगवान्‌की कृपापर भरोसा रखकर हम जी-जानसे चेष्टा करते रहे तो उनकी कृपासे हमें अवश्य सफलता मिलेगी और हम इसी जन्ममें, इसी जीवनमें अपने चरम लक्ष्यको प्राप्तकर कृतार्थ हो जायँगे।

★

निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना

वास्तवमें तो केवल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना हो ही नहीं सकती। क्योंकि जो उपासनाके योग्य लक्ष्य बनाया जाता है, वह किसी लक्षण या गुणके आधारके बिना नहीं हो सकता। ध्यान करनेके योग्य ध्येय तत्त्व चाहे कितना ही सूक्ष्मतम क्यों न बनाया जाय, वास्तवमें निर्गुण-निराकार निर्विकार ब्रह्मका स्वरूप तो वस्तुतः उससे भी अत्यन्त विलक्षण है; किंतु जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती तबतक उसकी प्राप्तिके लिये कुछ-न-कुछ लक्ष्य बनाकर ही उपासना की जाती है। कैसा भी सूक्ष्मसे सूक्ष्मतम लक्ष्य क्यों न हो, बुद्धिकी वृत्तिसे जो लक्ष्य बनाकर ध्यान किया जाता है, वह बुद्धि-विशिष्ट ब्रह्मका ही ध्यान होता है, निर्विशेष ब्रह्मका नहीं।

उपर्युक्त उपासनाका जो अन्तिम फल है अर्थात् उसके द्वारा जो प्रापणीय है, वही निर्गुण-निराकार ब्रह्म है। उसीको मुक्ति कहते हैं। उसीको गीता आदि शास्त्रोंमें परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति, शाश्वत शान्ति आदि अनेकों नामोंसे कहा है।

****

अस्ति-भाति-प्रिय

आरम्भमें साधक जड दृश्य पदार्थोंमें भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी भावना कर सकता है अर्थात् जो कुछ भी दृश्य है, वह अस्ति-भाति-प्रिय है—ऐसा समझकर उपासना कर सकता है। घट, पट आदि जड पदार्थोंका जो होनापना (अस्तित्व) है, वह अस्ति है; उनकी जो प्रतीति है, वह भाति है; और वह किसी-न-किसीको सुखदायक होता है, यह प्रिय है; किंतु सूक्ष्म विचार करनेपर ब्रह्मका स्वरूप इससे अत्यन्त विलक्षण मालूम होता है। क्योंकि जड पदार्थोंका जो अस्तित्व प्रतीत होता है, वह इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय होनेसे अनित्य है। अतः चिन्मय परमात्माकी सत्ता इससे अत्यन्त विलक्षण और नित्य है। पदार्थोंकी प्रतीतिरूप जो चेतना है वह भी इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय होनेके कारण जड, क्षणिक और अनित्य है। एवं पदार्थोंकी प्रियरूपता भी इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय होनेसे दुःखमिश्रित, जड, क्षणिक और परिवर्तनशील है, अतएव परमात्माका स्वरूप उससे अत्यन्त ही अलौकिक है। क्योंकि यदि वह सुख वास्तवमें परमात्माका स्वरूप होता तो वह इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय, अल्प और क्षणिक नहीं हो सकता। तथापि उपर्युक्त अस्ति-भाति-प्रियको परमात्माका आभास मानकर उपासना की जा सकती है।

जैसे दियासलाईमें अग्निकी सत्ता तो प्रकट है, किंतु उसकी प्रकाशिका और विदाहिका शक्ति अप्रकट है, चन्द्रमामें अस्तित्वके सिवा प्रकाशिका शक्ति भी प्रकट है, किंतु विदाहिका शक्ति अप्रकट है और सूर्यमें सत्ताके अतिरिक्त प्रकाशिका और विदाहिका दोनों शक्तियाँ भी प्रकट हैं, उसी प्रकार जड पदार्थोंमें परमात्माकी सत्ता तो प्रकट है, किंतु चेतनता और आनन्द अप्रकट हैं, जीवोंमें सत्ता और चेतनता प्रकट हैं, किंतु आनन्द अप्रकट है एवं अवतारों तथा महापुरुषोंमें सत्ता, चेतनता और आनन्द तीनों प्रत्यक्ष प्रकट हैं। जैसे दियासलाईके संघर्षणसे प्रकाशिका और विदाहिका शक्तिके

सहित आग प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार भजन-ध्यानका साधन करनेसे जड पदार्थोंमें भी सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं; जैसे भक्त प्रह्लादके लिये स्तम्भसे श्रीनृसिंहरूपमें प्रकट हुए थे। और इसी प्रकार साधकके हृदयमें भी साधना करनेसे सच्चिदानन्द परमात्मा प्रत्यक्ष हो जाते हैं। अतः इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूपका अभ्यास करना पूर्वोक्त अस्ति-भाति-प्रियरूपसे परमात्माकी उपासना करनेकी अपेक्षा अच्छा है; किंतु इससे भी उत्तम वह है, जो कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयमें ज्ञान और ज्ञेयका बाध करके केवल ज्ञाताके वास्तविक स्वरूपमें स्थित होना है। अर्थात् जो ज्ञाता है वही द्रष्टा एवं साक्षी है और वही सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा है—ऐसा समझकर अटलरूपसे स्थित रहना है।

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय

जो कुछ भी जाननेमें आता है वह ज्ञेय है, जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है और जो जाननेवाला है वह ज्ञाता है। ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता महान्, चेतन, सूक्ष्म, आधार, व्यापक और नित्य है। जो कुछ भी जाननेमें आनेवाला ज्ञेय है वह ज्ञानके अन्तर्गत है और ज्ञान ज्ञाताके अन्तर्गत है, इसलिये ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता 'महान्' है। इसके विपरीत ज्ञाताकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञेय 'अल्प' है। पातञ्जलयोगदर्शनमें कहा गया—

'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।'

(४।३१)

'क्लेश और कर्मकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्ण आवरणरूप मलके दूर होनेसे ज्ञानकी अनन्ततामें ज्ञेय अल्प है।'

ज्ञानके द्वारा ज्ञेय और ज्ञाताके द्वारा ज्ञान जाननेमें आता है। इसलिये ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता 'चेतन' और 'सूक्ष्म' है। इसके विपरीत ज्ञाताका विषय होनेसे ज्ञान और ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञेय

****

जड और स्थूल है। क्योंकि जाननेमें आनेवाला विषय जड और स्थूल तथा जाननेवाला चेतन और सूक्ष्म होता है।

ज्ञाता जब ज्ञेयको जानना नहीं चाहता, तब ज्ञान और ज्ञेय दोनोंसे रहित हो जाता है। इसलिये ज्ञाताका विषय होनेके कारण ज्ञान और ज्ञेय उसका आधेय है तथा ज्ञानका आधेय ज्ञेय है एवं ज्ञेयका आधार ज्ञान तथा ज्ञानका आधार ज्ञाता है, इसलिये ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय दोनोंमें व्यापक है और ज्ञान ज्ञेयमें व्यापक है।

ज्ञेयका बाध करनेपर भी बुद्धिकी वृत्तिरूप ज्ञान रहता है और उस वृत्तिका भी बाध कर देनेपर ज्ञाता बच रहता है, इसलिये ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा सत्यस्वरूप ज्ञाता 'नित्य' है। ज्ञान और ज्ञेयका अत्यन्त अभाव होनेपर भी ज्ञाताका अभाव कभी किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञाता नित्य और सत्य है।

ज्ञाता ही आनन्द है, इसलिये ज्ञाताकी ही सच्चिदानन्दरूपसे उपासना करनी चाहिये।

हम बोलना चाहते हैं तभी वाणीसे शब्द उच्चारण होते हैं, मौन हो जाते हैं तब नहीं होते; हम देखना चाहते हैं तभी बाहरका दृश्य दीखता है, नेत्र बंद करनेपर नहीं दीखता; इसी प्रकार हम जानना चाहते हैं तभी ज्ञेयका ज्ञान होता है, नहीं जानना चाहते तो नहीं होता। अतः जो कुछ भी पदार्थ देखने, सुनने या जाननेमें आते हैं, उन सबका बाध करके बाध करनेवाली ज्ञानरूप बुद्धिकी वृत्तिका भी बाध कर देना चाहिये। उसके बाद जो कुछ बच रहता है वह ज्ञाता है और वह ज्ञातृत्व-धर्मरहित शुद्धस्वरूप ज्ञाता ही नित्य सच्चिदानन्द ब्रह्म है। ऐसा समझकर ज्ञान और ज्ञेयसे रहित केवल चिन्मय नित्य विज्ञानानन्दघनरूपसे स्थित रहना चाहिये।

इस तरह ज्ञान और ज्ञेयका बाध करके केवल ज्ञाताको लक्ष्य बनाकर साधन करनेकी अपेक्षा भी केवल साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका ध्यान सबसे उत्तम है।

****

सत्

'सत्' उसे कहते हैं जिसका कभी किसी प्रकार बाध न हो सके। गीतामें भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्व-ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

'सत्' का वर्णन गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें आया है। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

'जो पुरुष मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं (वे मुझको ही प्राप्त होते हैं)।'

ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि परमात्मा अज, अक्षर, अव्यक्त, अविनाशी, सर्वत्र परिपूर्ण, शाश्वत, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, नित्य और सत्य है।

चित्

'चेतन' उसे कहते हैं जो सबको जाननेवाला और सबका प्रकाशक है तथा जो अन्य किसीके द्वारा जाना नहीं जा सकता। श्रीभगवान् कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

(गीता १३।१७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है।'

इसका अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये कि परमात्मा सर्वज्ञ,

ज्ञानस्वरूप, ज्योतियोंका भी ज्योति, सबका प्रकाशक, अचिन्त्य, तम और अज्ञानसे अत्यन्त परे, द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता और चेतन है।

आनन्द

'आनन्द' उसे कहते हैं जो असीम, अक्षय, गुणातीत, निरतिशय परम सुखरूप है तथा जहाँ विक्षेप और दुःखोंका अत्यन्त अभाव है। श्रीभगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६।२१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है, और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं; परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

इसका अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये कि वह परमात्मा पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अत्यन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द और अनन्त आनन्द है।

सत्-चित्-आनन्दकी एकता

यहाँ सत्, चित्, आनन्द—इन तीन नामोंसे जो ब्रह्मके लक्षण बतलाये हैं—ये तीनों धर्म हों और ब्रह्म धर्मी हो—ऐसा नहीं है, क्योंकि धर्म जड

होता है। अथवा ब्रह्म गुणी हो और ये उसके गुण हों, ऐसी भी बात नहीं है; क्योंकि ब्रह्म गुणातीत है। ये तीनों एक प्रकारसे ब्रह्मके साक्षात् लक्षण कहे जाते हैं; किंतु वास्तवमें तो ये ब्रह्मके नाम अर्थात् पर्यायवाची शब्द हैं, क्योंकि जो सत् है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही सत् है तथा जो सत् है, वही आनन्द है और जो आनन्द है, वही सत् है एवं जो चेतन है, वही आनन्द है और जो आनन्द है, वही चेतन है।

वास्तवमें तो उसे 'सत्' इसलिये कहा गया है कि वह वस्तुतः विद्यमान है, कहीं कोई उसका अभाव न मान ले। इसके लिये महापुरुषोंका अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, उस महात्माके अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित सारे संसारका अत्यन्त अभाव होते हुए भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव रहता है। उसे 'चेतन' इसलिये कहा गया है कि वह सत्स्वरूप परमात्मा किसीका विषय नहीं है; क्योंकि उसमें जडत्वका अत्यन्त अभाव है और वह स्वयं ही अपने-आपको जाननेवाला है। तथा उसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव है, वह परम शान्ति और परम सुखमय है, इसलिये उसे 'आनन्द' नामसे कहा गया है।

संसारी सुखका ज्ञाता कोई दूसरा ही होता है, उस सुखको अपने-आपका ज्ञान नहीं है, इसलिये वह जड है; किंतु ब्रह्मानन्दका ज्ञाता ब्रह्मसे भिन्न कोई दूसरा नहीं होता। वह स्वयं आनन्द ही अपने-आपको जानता है अर्थात् वह आनन्द ही ज्ञान—चेतन है। उस आनन्दसे ज्ञान—चेतन भिन्न नहीं है। संसारी सुखकी भाँति आनन्द उत्पत्ति-विनाशशील एवं क्षय-वृद्धिवाला नहीं होता, इसलिये वह सारे विकारोंसे रहित भावरूप है। सत्ता उससे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। उस आनन्दका अस्तित्व ही सत्ताका ज्ञापक है। उस परमात्माकी सत्तासे 'चेतन' भी कोई अलग चीज नहीं है। वह सत् ही स्वयं चेतन है और चेतन ही सत् है। चेतनसे सत्ता कोई अलग चीज नहीं है। चेतनके अस्तित्वको बतलानेके लिये ही सत् शब्दका प्रयोग किया गया है कि कहीं कोई उसका अभाव न मान ले।

'चेतन है'—ऐसा कहनेसे चेतन और चेतनका अस्तित्व कोई दो पदार्थ नहीं हो जाते। चेतनके अस्तित्वका द्योतन करनेके लिये ही 'चेतन है'—ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार 'आनन्द है'—ऐसा कहनेसे आनन्द और आनन्दका अस्तित्व कोई दो पदार्थ नहीं हो जाते। आनन्दके अस्तित्वका द्योतन करनेके लिये ही 'आनन्द है'—ऐसा कहा गया है। तथा विज्ञानानन्द शब्दसे भी ज्ञान और आनन्दको दो पदार्थ नहीं समझना चाहिये, क्योंकि संसारी सुखकी तरह उस आनन्दका कोई अन्य ज्ञाता नहीं है। वह आनन्द सांसारिक आनन्दसे अत्यन्त विलक्षण, जडतासे रहित, स्वयं ही अपने-आपको जाननेवाला है अर्थात् वह आनन्द ही स्वयं ज्ञान है। उस आनन्दसे भिन्न ज्ञान—चेतन कोई अलग चीज नहीं है या यों कहिये कि चेतन ही स्वयं आनन्द है, वास्तवमें आनन्द उसका विशेषण या लक्षण नहीं है, इसलिये उसको 'विज्ञानानन्द' कहते हैं।

यहाँतक जो सत्, चित्, आनन्दकी व्याख्या की गयी, इससे जो परमात्माका भाव समझमें आता है, वह भी बुद्धिविशिष्ट ही परमात्माका स्वरूप है। इसीको गीतामें **'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** (६। २१) कहा गया है। कठोपनिषद्में भी कहा गया है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(१। ३। १२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह सूक्ष्म बुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।'

किसी भी प्रकारसे जो सच्चिदानन्द परमात्माका स्वरूप समझमें आता है, उससे परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। उस सच्चिदानन्दघनके यथार्थ ज्ञानसे जो प्राप्त होता है वह उस परमात्माका

****

निर्विशेष अनिर्वचनीय स्वरूप है, उसीको निर्वाण ब्रह्म और परब्रह्म भी कहते हैं।

सत्ताके भेद

सत्ता तीन प्रकारकी होती है—१-काल्पनिक सत्ता, २-व्यावहारिक सत्ता और ३-वास्तविक सत्ता। जिनसे व्यावहारिक सिद्धि न हो, जो केवल प्रतीत होते हों, ऐसे पदार्थोंकी सत्ता काल्पनिक अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है; जैसे मरुभूमिमें जल, आकाशमें नीलिमा, आकाशमें तिरवरे और रज्जुमें सर्प आदिकी सत्ता। और जिन पदार्थोंसे व्यवहार सिद्ध होता है, उन पदार्थोंकी सत्ता व्यावहारिक सत्ता है; जैसे घट, पट आदि पदार्थोंकी सत्ता। एवं जिसका किसी देश, किसी काल और किसी वस्तुमें भी अभाव न हो, जो सदा एकरस, एकरूप रहे, उस परमार्थ वस्तुकी सत्ता वास्तविक सत्ता है अर्थात् द्रष्टा साक्षी चेतन आत्माका जो अस्तित्व है वह वास्तविक सत्ता है; इसीको पारमार्थिक सत्ता भी कहते हैं। इनमें व्यावहारिक सत्ता भी काल्पनिकके सदृश ही है; क्योंकि जाग्रदवस्थामें जो पदार्थ सत्तारूपसे प्रतीत होते हैं, वे जाग्रदवस्थाके अतिरिक्त स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि आदि किसी भी अवस्थामें प्रतीत नहीं होते और ज्ञान होनेके उत्तरकालमें जीवन्मुक्त पुरुषके हृदयमें जाग्रदवस्थामें भी यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषको पूर्वमें आये हुए स्वप्नका स्मरण करनेसे स्वप्नके दृश्यका जो एक लक्ष्य प्रतीत होता है, उसीकी भाँति जाग्रदवस्थामें ज्ञानीको यह संसार प्रतीत होता है। इसलिये इसे 'स्वप्नवत्' कहा गया। अन्तर इतना ही है कि स्वप्नका काल तो भूतकाल है और यह जाग्रत्का काल वर्तमानकाल है। इसीलिये उसे स्वप्न न कहकर स्वप्नवत् कहा गया है। किंतु विचार करनेपर मालूम होगा कि यह स्वप्नसे भी निस्तत्त्व है; क्योंकि स्वप्नके संसारकी तो जाग्रदवस्थामें काल्पनिक सत्ता है, पर स्वप्नावस्थामें जाग्रदवस्थाके संसारकी काल्पनिक सत्ता भी नहीं है। स्वप्नमें जो संसार दीखता है वह मनोराज्य ही दृढ़ होकर एक संसारके रूपमें प्रतीत होने लगता है। जैसे

जाग्रदवस्थामें घट-पटादि पदार्थोंकी व्यावहारिक सत्ता प्रतीत होती है उसी प्रकार स्वप्नकालमें भी स्वप्नके घट-पटादि पदार्थोंकी ज्यों-की-त्यों सत्ता प्रतीत होती है। इसलिये जाग्रत् और स्वप्न दोनोंकी ही एक काल्पनिक सत्ता ही सिद्ध होती है। यह सत्ता भी सच्चिदानन्द ब्रह्मका ही आभास है।

पाँच भूत, पाँच विषय और दस इन्द्रियाँ—इनकी अपेक्षा जो अन्तःकरणकी सत्ता है वह बलवान् है; क्योंकि जाग्रदवस्थामें जो अन्तःकरण है, स्वप्नावस्थामें वही अन्तःकरण है और स्वप्नसे जगनेपर फिर भी वही अन्तःकरण है; किंतु जाग्रत्‌के पदार्थ स्वप्नमें नहीं हैं और स्वप्नके पदार्थ जाग्रत्‌में नहीं हैं, पर मन-बुद्धि जो स्वप्नमें हैं, वही जाग्रत्‌में हैं और जो जाग्रत्‌में हैं वही स्वप्नमें हैं। इसलिये मन-बुद्धिका अस्तित्व उनकी अपेक्षा अधिक बलवान् है। मन-बुद्धिकी अपेक्षा भी आत्माका अस्तित्व नित्य होनेके कारण अधिक बलवान् है; क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिमें मन-बुद्धिके न रहनेपर भी आत्मा ज्यों-का-त्यों स्थित रहता है। सबका अभाव होनेपर भी आत्माका अभाव नहीं होता। इसलिये आत्माकी सत्ता ही वास्तविक सत्ता है; किंतु आत्माकी जो सत्ता समझमें आती है, वह बुद्धिका विषय होनेके कारण बुद्धिविशिष्ट आत्माका ही स्वरूप है; आत्माका जो असली चिन्मय शुद्ध स्वरूप है वह तो इससे भी अत्यन्त विलक्षण है। वह समझमें नहीं आता, वह स्वयं समझनेवाला और समझरूप है तथा समझमें आनेवाली सत्ता जडमिश्रित सत्ता है। अतः आत्माकी वास्तविक सत्ता इससे अत्यन्त विलक्षण है। परमात्माकी प्राप्ति हुए बिना वह किसी प्रकार भी किसीके समझमें नहीं आती।

ज्योतिके भेद

ज्योति भी कई प्रकारकी होती है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि जो ज्योतियाँ हैं उनकी अपेक्षा इन्द्रियोंकी ज्योति, इन्द्रियोंकी अपेक्षा अन्तःकरणकी और अन्तःकरणकी अपेक्षा आत्माकी ज्योति सूक्ष्म, श्रेष्ठ और बलवान् है।

पाँच भूत, पाँच विषय ग्राह्य हैं, इन्द्रियाँ और मन-बुद्धि ग्रहण हैं एवं आत्मा ग्रहीता है। जिसे ग्रहण किया जा सके—उसे 'ग्राह्य', जिसके द्वारा ग्रहण किया जाय—पकड़ा जाय, उसे 'ग्रहण', और ग्रहण करनेवालेको 'ग्रहीता' कहते हैं। ग्राह्यकी अपेक्षा ग्रहण और ग्रहणकी अपेक्षा ग्रहीता सूक्ष्म, चेतन, श्रेष्ठ और विलक्षण है। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत् और नक्षत्र आदि जो पदार्थ नेत्रोंसे दीखते हैं, उनसे नेत्र-इन्द्रिय सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है; क्योंकि सूर्य, चन्द्र आदि नेत्रोंके द्वारा ग्राह्य होनेसे जाने जा सकते हैं पर नेत्र उनके द्वारा नहीं जाने जा सकते। नेत्र आदि इन्द्रियोंसे मन सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है; क्योंकि मन तो इन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको जानता है; किंतु मनको इन्द्रिय और उनके विषय कोई भी नहीं जान सकते। विषय, इन्द्रिय और मनसे भी बुद्धि सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है; क्योंकि बुद्धि तो उनको और उनके व्यापारोंको—सबको जानती है; किंतु बुद्धि और उसके व्यापारको वे कोई नहीं जानते अर्थात् प्रकाश, नेत्र और मन आदिको बुद्धि समझती है पर बुद्धि और बुद्धिके व्यापारको प्रकाश, नेत्र या मन आदि कोई नहीं समझ सकते। इसलिये उन सबसे बुद्धि सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है। चेतन आत्मा उपर्युक्त इन सब जड ज्योतियोंको और उनके व्यापारोंको एवं बुद्धिके मन्दता, तीक्ष्णता और ज्ञान आदि व्यापारोंको भी जानता है पर आत्माको कोई भी किसी भी प्रकार नहीं जान सकता; क्योंकि आत्मा सबसे सूक्ष्म, श्रेष्ठ, विलक्षण और चिन्मय है। जैसे नेत्रोंके विषय सूर्य-चन्द्रादिके प्रकाशकी अपेक्षा बुद्धिका विषय ज्ञान अत्यन्त विलक्षण है, इसी प्रकार बुद्धि-वृत्तिरूप ज्ञानकी अपेक्षा भी आत्माकी चेतनता अत्यन्त विलक्षण है; क्योंकि उपर्युक्त सभी चेतनता आत्माका आभास तथा ज्ञेय होनेसे जड ही है। यदि कहें कि आत्मा भी बुद्धिके द्वारा जाना जा सकता है, उसको **'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** कहा ही है सो ठीक है पर वह बुद्धिग्राह्य आत्माका स्वरूप आत्माके अत्यन्त निकटका अर्थात् तटस्थ-स्वरूप है तथा बुद्धिके

द्वारा समझमें आनेके कारण वह बुद्धिविशिष्ट ही है। वास्तविक आत्माकी चेतनता तो इससे भी अत्यन्त विलक्षण है जो बुद्धिके द्वारा भी समझमें नहीं आती, परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आती है।

आनन्दके भेद

आनन्द भी कई प्रकारका होता है। प्रमाद, आलस्य, निद्रासे उत्पन्न सुखकी अपेक्षा विषयेन्द्रियसंयोगजनित सुख ज्ञानकी अधिकता होनेके कारण श्रेष्ठ है। विषयेन्द्रियसंयोगजनित सुखकी अपेक्षा भी परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न सुख उसमें बुद्धिकी स्वच्छता, निर्मलता, स्थिरता, तीक्ष्णता होनेके कारण अति विलक्षण है। इन सब गुणमय अनित्य सुखोंकी अपेक्षा भी परमात्माके स्वरूपका आनन्द निर्विकार, गुणातीत, नित्य, चेतन होनेके कारण अत्यन्त विलक्षण है। क्योंकि उपर्युक्त सभी आनन्द आत्माका आभास ही है तथा आत्मविषयक आनन्द भी बुद्धिवृत्तिके द्वारा समझमें आनेवाला होनेके कारण बुद्धिविशिष्ट ही आनन्द है। इसीको गीतामें **'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** (६। २१) कहा है। पर परमात्माका वास्तविक स्वरूपभूत आनन्द तो इससे भी अत्यन्त विलक्षण है, वह किसीका भी विषय न होनेके कारण किसी प्रकार भी किसीकी समझमें नहीं आ सकता, वह स्वयं आप ही अपनेको जानता है। यह बात उस परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही समझमें आ सकती है।

यहाँ ऊपर सत्-चित्-आनन्दकी व्याख्या की गयी, अब उस सच्चिदानन्दघन परमात्माकी घनता, अव्यक्तता, समता, अनन्तता और व्यापकताके सम्बन्धमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

घनता

सभी प्रकारकी घनतासे आत्माकी घनता अत्यन्त विलक्षण है। पत्थर, शीशा और बादलकी घनताकी अपेक्षा अन्तःकरणकी घनता अत्यन्त विलक्षण होनेसे श्रेष्ठ है, क्योंकि पत्थरमें शिला, शीशेमें काँच और बादलमें

****

पानीकी घनता होते हुए भी पोल होनेके कारण उनमें आकाशके अतिरिक्त शीत-उष्ण आदिका भी प्रवेश होनेकी गुंजाइश है, पर अन्तःकरणमें इनके प्रवेशकी गुंजाइश नहीं। अन्तःकरणकी अपेक्षा आत्माकी घनता और भी विलक्षण है; क्योंकि मनमें संकल्प-विकल्प और बुद्धिमें मन्दता, तीक्ष्णता, ज्ञान और निश्चय आदि हो सकते हैं; किंतु आत्मामें किसीके भी प्रवेशकी गुंजाइश नहीं।

यदि कहें कि आत्मामें किसीकी गुंजाइश नहीं तो फिर यह सम्पूर्ण संसार किसमें समाया हुआ है ? तो इसका उत्तर यह है कि आत्मामें न यह समाया हुआ है और न उसका इससे सम्बन्ध ही है; अज्ञानके कारण आत्मामें मरुमरीचिका की तरह बिना हुए ही यह प्रतीत होता है और गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि यह चेतन आत्मा स्वयं अपना-आप ही है, उसमें दूसरे किसीके लिये किंचिन्मात्र भी स्थान नहीं है।

उपर्युक्त विवेचनसे जो परमात्माकी घनता समझमें आती है, उससे भी परमात्माकी वास्तविक घनता अत्यन्त विलक्षण है जो कि परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आ सकती है।

अव्यक्तता

सभी प्रकारकी अव्यक्ततासे निर्गुण परमात्माकी अव्यक्तता अत्यन्त विलक्षण है। पृथ्वी, जल, तेज—ये मूर्त्त होनेसे व्यक्त हैं, इनकी अपेक्षा वायु और आकाश अमूर्त्त होनेसे अव्यक्त हैं; परंतु उनमें भी वायुके सस्पन्द, निष्पन्द तथा स्पर्शशील होनेसे उसकी अपेक्षा आकाश अधिक अव्यक्त है, क्योंकि आकाशका किसी भी इन्द्रियसे प्रत्यक्ष नहीं होता। आकाशसे मन और अधिक अव्यक्त है। आकाश तो प्रकाश और अन्धकारको स्थान देनेवाला, विस्तृत देशरूप तथा अवकाशरूप होनेसे इदन्तासे समझाया भी जा सकता है, किंतु इस प्रकार मनको नहीं समझाया जा सकता। एवं मनकी अपेक्षा बुद्धिकी अव्यक्तता और भी विलक्षण है। मनकी चञ्चलता, गमनागमन आदि बुद्धिके द्वारा जाने जा सकते हैं, पर बुद्धिकी मन्दता,

****

तीक्ष्णता और ज्ञान आदिको मन नहीं समझ सकता। इसलिये बुद्धि मनकी अपेक्षा अव्यक्त है। इससे भी प्रकृतिकी अव्यक्तता विलक्षण है, जिससे बुद्धि उत्पन्न होती है और जो बुद्धिकी भी समझमें नहीं आती, उस अव्यक्त प्रकृतिसे भी परमात्माकी अव्यक्तता पर, श्रेष्ठ, सनातन, नित्य और चेतन है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(८।२०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी अव्यक्तता नित्य और सनातन है, शेष सब नाशवान्, एकदेशीय और परप्रकाश्य होनेसे अनित्य एवं जड है।

उपर्युक्त विवेचनसे जो परमात्माकी अव्यक्तता समझमें आती है, उससे भी वास्तवमें परमात्माकी अव्यक्तता अत्यन्त विलक्षण है, जो कि परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आ सकती है।

समता

सभी प्रकारकी समतासे परमात्माकी समता अत्यन्त विलक्षण है। मनुष्य अपने देहमें भी स्वयं मस्तकके साथ ब्राह्मणका-सा, हाथोंके साथ क्षत्रियका-सा और पैरोंके साथ शूद्रका-सा व्यवहार करता है; इसी प्रकार माताके साथ माताकी तरह, गुरुके साथ गुरुकी तरह और स्त्रीके साथ स्त्रीकी तरह बर्ताव करता है और ऐसा करना उचित ही समझा जाता है। इनमें सबके साथ समवर्तन विधेय और उचित नहीं है। गीतामें भी भगवान्‌ने ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समदर्शनकी ही प्रशंसा की है, समवर्तनकी नहीं।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५।१८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

खान, पान और व्यवहारमें यथायोग्य की जानेवाली समताकी अपेक्षा भावकी समता अर्थात् समदर्शन उत्तम है। व्यावहारिक समतामें तो कहीं-कहीं विषमता भी उत्पन्न हो जाती है। जैसे कोई मनुष्य बराबरका हकदार होनेपर भी कीमत या परिमाणमें स्वयं कम लेकर दूसरे हिस्सेदारको अधिक देता है तो यह विषमता त्यागरूप होनेके कारण समतासे भी उत्तम मानी जाती है। और कहीं-कहीं तो व्यवहारकी समताकी अपेक्षा विषमता करनी विधेय है, जैसे किसी सम्मान्य व्यक्तिका आदर-सत्कार करते समय हाथ, पैर, सिर सभी अपने ही अङ्ग होनेपर भी मस्तक तथा हाथसे ही नमस्कार आदि करनेका विधान है, पैरोंसे नहीं। किंतु व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहते हुए भी भावमें सबके प्रति दया, क्षमा, प्रेम, सौहार्द आदि समानरूपसे रहने ही चाहिये।

इस भावकी समताकी अपेक्षा भी आत्माकी समता और भी विलक्षण होनेसे श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने कहा है कि '**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि** (गीता ६।२९)।' बादलको आकाशके एक अंशमें और आकाशको बादलके अणु-अणुमें देखनेकी भाँति योगी सारे भूतोंको आत्मामें और आत्माको सारे भूतोंमें समभावसे स्थित देखता है। जैसे अज्ञानी आदमी देहमें आत्माको और देहके अङ्गोंमें सुख-दुःखोंको समभावसे देखता है, इसी प्रकार योगी सारे ब्रह्माण्डमें आत्माको और सारे प्राणियोंके सुख-दुःखोंको समभावसे देखता है। गीतामें भी कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

अतः यह समता भावकी समतासे भी अति विलक्षण और उच्च कोटिकी है;

क्योंकि भावकी समता तो ज्ञेय होनेसे जड है और आत्माकी समता ज्ञानस्वरूप होनेसे चेतन है।

इसी प्रकार भौतिक समताकी अपेक्षा बौद्धिक और बौद्धिककी अपेक्षा आत्मविषयक समता विलक्षण, चेतन और अत्यन्त श्रेष्ठ है। भूतोंकी समता बुद्धिके द्वारा समझी जाती है तथा बुद्धिकी समता भी आत्माके द्वारा समझी जाती है, इसलिये इनसे आत्माकी समता अत्यन्त विलक्षण होनेसे सर्वोत्कृष्ट है। इसमें भी साधनकालकी समतासे सिद्धकालकी समता विलक्षण है और सिद्धावस्थाकी समताकी अपेक्षा सच्चिदानन्द ब्रह्मकी समता अत्यन्त विलक्षण होनेसे सर्वोत्कृष्ट है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

यह साधनावस्थाकी समता है। साधनावस्थाका फल यह दिखलाया गया कि इस प्रकार समभावसे युद्ध किया जाय तो पापकी प्राप्ति नहीं होती; किंतु सिद्धावस्थाकी समता इससे भी अधिक कीमती और विलक्षण है। गीतामें कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५।१९)

'जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।' सिद्धावस्थाकी समताकी यह विलक्षणता दिखलायी गयी कि उसके द्वारा यहाँ जीवितकालमें ही संसार जीत लिया गया और उसकी स्थिति ब्रह्ममें है।

****

किंतु साधन और सिद्ध—दोनों अवस्थाओंकी यह समता समझमें आती है, पर परमात्माकी वास्तविक समता समझमें नहीं आ सकती; क्योंकि परमात्माकी समतासे ही इस समताकी सिद्धि है।

ब्रह्मविषयक जो समता बुद्धिके द्वारा समझमें आती है, वह बुद्धिविशिष्ट ब्रह्मकी ही समता है; क्योंकि समझमें आनेवाली समता ज्ञेय होनेसे जड है और ब्रह्म चेतन है; इसलिये चेतन परमात्मा ही सबको जाननेवाला है, उसको कोई नहीं जान सकता।

उपर्युक्त विवेचनसे जो परमात्माकी समता समझमें आती है, उससे भी वास्तवमें परमात्माकी समता अत्यन्त विलक्षण है, जो कि परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आ सकती है।

अनन्तता

सभी प्रकारकी अनन्ततासे परमात्माकी अनन्तता अत्यन्त विलक्षण है। पृथ्वी, जल, तेज और वायुकी अपेक्षा आकाश अनन्त और असीम है; किंतु जैसे स्वप्नके संसारका आकाश सम्पूर्ण भूतोंके सहित जीवके मनके अन्तर्गत है, वैसे ही परमात्माके संकल्पमें होनेके कारण यह आकाश भी समष्टि-मनके अन्तर्गत है। वह समष्टि-मन समष्टि-अहङ्कारका कार्य होनेसे उसके अन्तर्गत है, समष्टि-अहङ्कार समष्टि-बुद्धि—महत्तत्त्वके अन्तर्गत है, महत्तत्त्व अव्याकृत मायाका कार्य होनेसे अव्याकृत मायाके एक अंशमें है, अव्याकृत माया भी परमात्माके किसी एक अंशमें है; परंतु वह परमात्मा किसीका अंश या कार्य न होनेसे अपने-आपमें ही स्थित है। अतएव वही वस्तुतः अनन्त है।

आकाशकी अनन्तताकी अपेक्षा बुद्धिकी अनन्तता इसलिये भी विलक्षण है कि आकाशकी अनन्तता तो देशगत, फैली हुई-सी, दृश्य और बुद्धिगम्य होनेसे ग्राह्य है तथा इदन्तासे उसका निर्देश हो सकता है; परंतु बुद्धिकी अनन्तता ग्रहण और ज्ञानस्वरूप होनेके कारण आकाशकी तरह समझायी नहीं जा सकती। और ज्ञातास्वरूप आत्माकी वास्तविक अनन्तता तो चेतन होने तथा किसीका विषय न होनेके कारण किसी प्रकार भी समझायी नहीं जा सकती।

****

उपर्युक्त विवेचनसे जो आत्मविषयक अनन्तता बुद्धिके द्वारा समझमें आती है, वह बुद्धिमिश्रित ही है, वास्तविक परमात्माकी अनन्तता तो चेतन होनेके कारण किसी प्रकार भी समझमें नहीं आ सकती, परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही समझमें आती है।

व्यापकता

सभी प्रकारकी व्यापकतासे परमात्माकी व्यापकता भी अत्यन्त विलक्षण है। तिलोंमें तैल व्यापक है, इसकी अपेक्षा तो वायु आदि भूतोंमें आकाशकी व्यापकता विलक्षण है; क्योंकि तैल निकालनेपर खली बच रहती है। पर यहाँ सबके अपने कारण—आकाशमें विलीन होनेपर कार्य ही कारणके रूपमें परिणत होनेके कारण कुछ भी नहीं बचता। पृथ्वीमें जल, तेज, वायु और आकाश, जलमें तेज, वायु और आकाश, तेजमें वायु और आकाश तथा वायुमें आकाश व्यापक है। इन भूतोंकी व्यापकताकी अपेक्षा अन्तःकरणकी व्यापकता अत्यन्त विलक्षण है। समस्त भूत आकाशके कार्य होनेसे आकाश उनमें सर्वत्र समभावसे व्यापक है; किंतु भूत, विषय और इन्द्रियोंमें अन्तःकरणकी जो व्यापकता है, वह इससे भी विलक्षण है। जैसे स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले संसारमें अन्तःकरण व्यापक है, इसी तरह इस संसारमें भी समष्टि-अन्तःकरण व्यापक है। जैसे जाग्रत् कालमें यह संसार प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, इसी तरह स्वप्नका संसार भी स्वप्नकालमें प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नका संसार अन्तःकरणका संकल्प होनेसे उसका विकार है, इसी प्रकार यह संसार भी समष्टि-अन्तःकरणका संकल्प होनेसे समष्टि-अन्तःकरणका विकार है और विकार होनेसे यह उसका कार्य है। जिस प्रकार कल्पित वस्तुमें कल्पना करनेवाला व्यापक होता है, इसी प्रकार इस संसारमें अन्तःकरण व्यापक है। आकाशकी और भूतोंकी समान सत्ता है पर कल्पककी और कल्पित वस्तुकी समान सत्ता नहीं है, इसलिये कल्पक अन्तःकरणकी व्यापकता कल्पित दृश्यवर्गसे विलक्षण है। आत्माकी व्यापकता तो इससे भी विलक्षण है, क्योंकि अद्वैत सिद्धान्तके

अनुसार वास्तवमें आत्मामें तो संकल्परूपसे भी संसार नहीं है, केवल आरोपमात्र है। जैसे किसीको नेत्रदोषके कारण आकाशमें तिरवरे या जाले-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तवमें विचारकर देखनेपर ज्ञात होता है कि आकाश तो सत्य है और तिरवरे या जाले उसमें आरोपित हैं तथा प्रतीत होनेवाले तिरवरों—जालोंमें आकाश व्यापक है, इसी तरह इस संसारमें परमात्मा व्यापक है। वास्तवमें तो आरोपित वस्तु कुछ है ही नहीं, जिसमें आरोप किया जाता है, वह अधिष्ठान ही है। यहाँ व्याप्य-व्यापकता तो कथनमात्र है। क्योंकि संसार जड है और परमात्मा चेतन है, इसलिये जड वस्तुमें चेतनकी जो व्यापकता-सी प्रतीत होती है, वह अज्ञानसे ही प्रतीत होती है, वास्तवमें नहीं।

उपसंहार

ऊपर जो परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है, उससे जो कुछ समझमें आता है वह सब बुद्धिविशिष्ट परमात्माका ही स्वरूप है; क्योंकि समझमें आनेवाला पदार्थ बुद्धिके मिश्रणसे बुद्धिका विषय होकर ही समझमें आता है। वह परमात्मा किसीका विषय नहीं है। इसलिये परमात्माका निर्गुण-निर्विशेष स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही समझमें आता है। यह कथन भी वास्तवमें नहीं बनता; परंतु बिना कुछ कहे इसका वर्णन भी कैसे हो और वर्णनके बिना किसी तरहका आधार प्राप्त न होनेसे साधक साधन भी कैसे करे। इसलिये शास्त्रोंमें परमात्माके विषयमें जो कुछ भी कहा गया है, वह साधकोंके कल्याणार्थ साधनविषयक ज्ञान करानेके ही लिये कहा गया है। वस्तुतः परमात्मा अनिर्वचनीय, अगोचर, अचिन्त्य और मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका अविषय है।

परमात्माको सत्, चित्, आनन्द, घन, अव्यक्त, सम, अनन्त, व्यापक आदि विशेषणोंके द्वारा बतलाकर जो कुछ विशेष वस्तुतत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो एक विशेष वस्तु समझमें आती है, उसको लक्ष्यमें रखकर साधकको श्रद्धापूर्वक नित्य-निरन्तर उस परमात्माका चिन्तन करना चाहिये। यह चिन्तन करना ही उसकी उपासना है। इस तरह उपासना

करनेसे मनुष्य उस साक्षात् निर्विशेष निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके यथार्थ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, उसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति, परमपदकी प्राप्ति, परमा गतिकी प्राप्ति, परमा शान्तिकी प्राप्ति, परम आनन्दकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति और अमृतकी प्राप्ति आदि नामोंसे कहा है।

ज्ञानीकी अनिर्वचनीय स्थिति

जिस प्रकार असत्य, हिंसा और मैथुनादि कर्म बुद्धिमें बुरे निश्चित हो जानेपर भी उन्हें मन नहीं छोड़ता, इसी प्रकार बुद्धि विचारद्वारा संसारको कल्पित निश्चय कर लेती है, परंतु मन इस बातको नहीं मानता। साधककी एक ऐसी अवस्था होती है और इस अवस्थाको इस प्रकारसे व्यक्त किया जाता है कि 'मेरी बुद्धिके विचारमें संसार कल्पित है' इसके पश्चात् जब आगे चलकर मन भी इस बातको मान लेता है तब संसारमें कल्पित भाव हो जाता है। परंतु यह भी केवल कल्पना ही होती है। इसके बाद जब अभ्यास करते-करते ऐसी स्थिति प्रत्यक्षवत् हो जाती है तब साधकको किसी समय तो संसारका चित्र 'आकाशमें तिरवरों' की तरह भासित होता है और किसी समय वह भी नहीं होता। जैसे आकाशमें तिरवरे देखनेवालेको यह ज्ञान बना रहता है कि 'वास्तवमें आकाशमें कोई विकार नहीं है, बिना हुए ही भासित होता है।' इसी प्रकार उस साधकका भी भास होने और न होनेमें समान ही भाव रहता है, उसे संसारकी सत्ताका किसी कालमें किसी और प्रकारसे भी सत्य भास नहीं होता। इस अवस्थाका नाम 'अकल्पित स्थिति' है। साधककी ऐसी अवस्था ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें हुआ करती है, परंतु इस अवस्थामें भी इस स्थितिका ज्ञाता एक धर्मी रह जाता है। इस तीसरी भूमिकामें साधनकी गाढ़ताके कारण साधकके व्यावहारिक कार्योंमें भूलें होनी सम्भव हैं। परन्तु भगवत्प्राप्तिरूप चौथी भूमिकामें प्रायः भूलें नहीं होतीं, उस अवस्थामें तो उसके द्वारा न्याययुक्त समस्त कार्य सुचारुरूपसे स्वाभाविक

ही बिना सङ्कल्पके हुआ करते हैं। जैसे श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(४ । १९)

'जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं, ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले उस पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।' पञ्चम भूमिकामें व्यावहारिक कार्योंमें भूलें हो सकती हैं, परंतु तीसरी भूमिकावालेकी अवस्था साधनरूपा है और पाँचवीं भूमिकावालेकी स्थिति स्वाभाविक है। तीसरी भूमिकाके बाद 'साक्षात्कार' होता है, इसीको मुक्ति कहते हैं। कोई जैन आदि मतावलम्बी लोग तो मृत्युके बाद मुक्ति मानते हैं, परंतु हमारे वेदान्तके सिद्धान्तमें जीवन्मुक्ति भी मानी गयी है, मृत्युके पहले भी ज्ञान हो सकता है। इस अवस्थामें उसका शरीर तथा शरीरके द्वारा होनेवाले कर्म केवल लोगोंको देखनेमात्रके लिये रह जाते हैं। उसमें कोई 'धर्मी' नहीं रहता। यदि कोई कहे कि जब उसमें चेतन ही नहीं रहा तो फिर क्रिया क्योंकर होती है ? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि समष्टि-चेतन तो कहीं नहीं गया, व्यष्टि-भावसे हटकर उसकी स्थिति शुद्ध चेतनमें हो गयी। समष्टि-चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिसे क्रिया हुआ करती है, इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। इसपर यदि कोई फिर यह कहे कि चेतन तो जड पदार्थ और मुर्देमें भी है, उनमें क्रिया क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर यह है कि उनमें क्रिया न होनेका कारण अन्तःकरणका अभाव है, यदि योगीजन एक चित्तकी अनेक कल्पना करके मुर्दे या जड पदार्थमें चित्तका प्रवेश करवा दें तो उसमें भी क्रियाओंका होना सम्भव है।

कोई पूछे कि ज्ञानी कौन है ? तो इसके उत्तरमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि शरीरको ज्ञानी कहा जाय तो जड शरीरका ज्ञानी होना सम्भव नहीं, यदि जीवको ज्ञानी कहें तो ज्ञानोत्तरकालमें उस चेतनकी 'जीव' संज्ञा नहीं रहती और यदि शुद्ध चेतनको ज्ञानी कहें तो शुद्ध चेतन तो कभी अज्ञानी

****

हुआ ही नहीं। इसलिये यह नहीं बतलाया जा सकता कि ज्ञानी कौन है ?

ज्ञानीकी कल्पना अज्ञानीके अन्तःकरणमें है, शुद्ध चेतनकी दृष्टिमें तो कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। ज्ञानीको जब दृष्टि ही नहीं रही तो फिर सृष्टि कहाँ रहती ? अज्ञानीजन इस प्रकार कल्पना किया करते हैं कि इस शरीरमें जो जीव था सो समष्टि-चेतनमें मिल गया, समष्टि-चेतनके जिस अंशमें अन्तःकरणका अध्यारोप है उस अन्तःकरणसहित उस चेतनके अंशका नाम ज्ञानी है। वास्तविक दृष्टिमें ज्ञानी किसकी संज्ञा है यह कोई भी वाणीद्वारा नहीं बतला सकता; क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टिमें तो ज्ञानीपन भी नहीं है। ज्ञानी और अज्ञानीकी संज्ञा केवल लोकशिक्षाके लिये है और अज्ञानियोंके अंदर ही इसकी कल्पना है। जिस प्रकार गुणातीतके 'लक्षण' बतलाये जाते हैं। भला जो तीनों गुणोंसे अतीत है उसमें 'लक्षण' कैसे ? लक्षण तो अन्तःकरणमें बनते हैं और अन्तःकरणसे होनेवाली क्रिया त्रिगुणात्मिका है। बात यह है कि गुणातीतको समझनेके लिये अन्तःकरणकी क्रियाओंके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(१४।२२)

इसीके आगे २३, २४ और २५वें श्लोकोंमें भी गुणातीतके लक्षण बतलाये गये हैं। उपर्युक्त २२वें श्लोकके 'प्रकाश' शब्दसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें उजियाला, प्रवृत्तिसे चेष्टा और मोहसे निद्रा, आलस्य (प्रमाद या अज्ञान नहीं) अथवा संसारके ज्ञानमें सुषुप्तिवत् अवस्था समझनी चाहिये। अन्तःकरणमें कोई 'धर्मी' न रहनेके कारण 'द्वेष' और आकाङ्क्षा तो किसको हो ? राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि न होनेके कारण यह सिद्ध होता है कि उसमें कोई 'धर्मी' नहीं है। यदि जड अन्तःकरणके साथ समष्टि-चेतनकी लिप्तता होती तो जड अन्तःकरणमें राग-द्वेषादि विकारोंका होना सम्भव होता। परंतु समष्टि-चेतनका सम्बन्ध अन्तःकरणसे नहीं रहता, केवल उसकी

सत्ता-स्फूर्तिसे चेष्टा होती है। ये सब लक्षण भी वहाँतक हैं जहाँतक संसारका चित्र है और ये साधकके लिये आदर्श उपायस्वरूप हैं, इसीलिये शास्त्रोंमें इनका उल्लेख है।

गुणातीतकी वास्तविक अवस्थाको कोई दूसरा न तो जान सकता है और न बतला ही सकता है, वह स्वसंवेद्य स्थिति है। परन्तु यदि कोई इस प्रकार परीक्षा करे कि मुझमें ज्ञानीके लक्षण हैं या नहीं ? तो जानना चाहिये कि इसे ज्ञान नहीं है, लक्षणोंकी खोजसे यह बात सिद्ध हो गयी कि उसकी स्थिति शरीरमें है, उस ज्ञानीकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है, नहीं तो खोजनेवाला कौन और स्थिति किसकी ? और यदि खोजना ही चाहे तो केवल शरीरमें ही क्यों खोजे, पाषाण या वृक्षोंमें उसे क्यों न खोजे ? केवल शरीरमें ढूँढ़नेसे उसका शरीरमें अहंभाव सिद्ध होता है। इससे तो वह अपने-आप ही क्षुद्र बना हुआ है। हाँ, यदि साधक शरीरसे अलग होकर (द्रष्टा बनकर) पत्थर और वृक्षादिके साथ अपने शरीरकी सादृश्यता करता हुआ विचार करे तो इससे उसे लाभ होना सम्भव है। जैसे श्रीगीताजीमें कहा है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४।१९)

'जिस कालमें द्रष्टा तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघन मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

परन्तु जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान नहीं हुआ' वह भी ज्ञानी नहीं है; क्योंकि वह स्पष्ट कहता है। जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान हो गया' उसे भी ज्ञानी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यों कहनेसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन पदार्थ सिद्ध होते हैं और जो यह कहता है कि 'ज्ञान हुआ कि नहीं मुझे मालूम नहीं' सो भी ज्ञानी नहीं है; क्योंकि ज्ञानोत्तरकालमें इस प्रकारका सन्देह रह नहीं सकता। तो ज्ञानी क्या कहे ? इसका उत्तर नहीं मिलता। इसीलिये यह स्थिति 'अनिर्वचनीय' कही गयी है।

—★—

निर्गुण-निराकारका ध्यान

दृश्यका बोध

जो कुछ भी दृश्यमात्र है, वह सब मायामय है, स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्नसे जगनेके बाद स्वप्नके संसारका नाम-निशान भी नहीं है, उससे भी बढ़कर इसका अत्यन्त अभाव है। स्वप्नका संसार स्वप्नसे जगनेके बाद काल्पनिक सत्ताको लिये हुए है अर्थात् कल्पनामात्र है। किन्तु परमात्माके स्वरूपमें जगनेके बाद अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार होनेके बाद यह संसार कल्पनामात्र भी नहीं है। क्योंकि स्वप्नमें जो संसार जिन मन-बुद्धिमें प्रतीत हुआ था, जगनेके बाद वही मन-बुद्धि है, पर उन मन-बुद्धिमें स्वप्नके संसारकी कोई सत्ता कायम नहीं है, इसलिये वह सत्ता कल्पना मानी गयी है। परमात्माकी प्राप्ति होनेके उत्तरकालमें तो ये मन-बुद्धि मायिक होनेके कारण यहीं इस मायामय शरीरमें ही रह जाते हैं। इसलिये परमात्माके स्वरूपमें इस संसारका अत्यन्त अभाव है। परन्तु जिस व्यक्तिको लोग परमात्माकी प्राप्ति हुई मानते हैं, उस व्यक्तिके अन्तःकरणमें यह संसार स्वप्नवत् है—ऐसा शास्त्र कहते हैं। अतः साधक पुरुषको उचित है कि संसारको मायामात्र, स्वप्नवत्, आकाशमें प्रतीत होनेवाले तिरवरोंकी भाँति अथवा मरुमरीचिकाकी तरह वास्तवमें कोई पदार्थ है नहीं, केवल प्रतीति होती है—ऐसा समझकर उसका मनसे कतई त्याग कर दे अथवा यों कहिये कि सङ्कल्परहित हो जाय, स्फुरणारहित हो जाय, संसारको भुला दे।

किसी कविने कहा है—

मन फुरनासे रहित कर, जौ नहि बिधिसे होय।
चाहे भक्ति चाहे ज्ञानसे, चाहे योगसे खोय॥

अद्वैत-सिद्धान्तका सार यह है कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा कुछ भी न हुआ है, न है। तीनों कालोंमें इस दृश्यका तथा उन तीनों कालोंका भी अत्यन्त अभाव समझकर एक नित्य विज्ञान-आनन्दघन परमात्मामें तन्मय हो रहना चाहिये।

****

परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन

परमात्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। ये तीनों परमात्माके स्वरूप हैं। ये विशेषण नहीं हैं; क्योंकि यहाँ विशेषण और विशेष्यका भेद नहीं है। ये उनके गुण भी नहीं हैं, क्योंकि परमात्मामें गुण और गुणीका भेद नहीं है और न ये उनके धर्म ही हैं; क्योंकि उनमें धर्म और धर्मीका भी भेद नहीं है।

सत्—

हमलोगोंको सत् एक दूसरी वस्तु प्रतीत होती है, चित् एक दूसरी वस्तु प्रतीत होती है और आनन्द एक और ही वस्तु प्रतीत होती है; पर बात ऐसी नहीं है। जो सत् है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही आनन्द है। या यों कहिये कि जो चेतन है, वही सत् है और जो सत् है, वही आनन्द है। अथवा यों कहिये कि जो आनन्द है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही सत् है। जिस सत्को हमलोग सत् मानते हैं, वह सत् वास्तवमें परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि परमात्माका स्वरूप उस सत्से विलक्षण है।

गीतामें कहा है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(१३। १२)

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

बुद्धिके द्वारा समझमें आनेवाली सत्ता मायिक सत्ता है। इसलिये वह मायाका ही कार्य है। साधक पुरुषको उसमें परमात्मबुद्धि करनेसे परमात्माकी प्राप्ति तो हो जाती है, किन्तु वास्तवमें वह सत् परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि यह बुद्धि मायाका कार्य होनेसे मायातीत परमात्माका लक्ष्य नहीं कर सकती। उस सत्को बुद्धिविशिष्ट परमात्माका स्वरूप कहा जा सकता है, केवल निर्विशेष परमात्माका स्वरूप नहीं।

चेतन—

जिस चेतनको हमलोग चेतन समझते हैं, वह चेतन भी वास्तवमें परमात्माका स्वरूप नहीं है। उससे भी परमात्माका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। इसलिये गीतामें कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(१३। १७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जो ज्योतियाँ प्रतीत होती हैं इनसे तो बुद्धिके द्वारा समझमें आनेवाली ज्योतियाँ विलक्षण हैं अर्थात् प्रकाश आदिकी अपेक्षा विवेक और ज्ञान श्रेष्ठ हैं। उससे भी विलक्षण वह है जो चेतन आत्माके द्वारा चिन्मय वस्तु समझमें आती है; क्योंकि बुद्धि नेत्र और नेत्रोंके विषयको जानती है, पर नेत्र बुद्धि या बुद्धिके विषयको नहीं समझ सकते। इसी प्रकार आत्मा बुद्धि और बुद्धिके विषयको जानता है, पर बुद्धि आत्माको नहीं जान सकती। यद्यपि आत्मा भी, जो अपने स्वरूपको जानना है, वह शुद्ध एवं सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा ही जानता है।

कठोपनिषद्में कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(१। ३। १२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह सूक्ष्म बुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।'

किन्तु बुद्धिके द्वारा भी जो आत्माका स्वरूप जाननेमें आता है, वह

बुद्धिविशिष्ट परमात्माका स्वरूप है, केवल निर्विशेषस्वरूप तो उससे भी विलक्षण है, जो किसी प्रकार बुद्धिके द्वारा भी जाना नहीं जा सकता।

उपनिषद्में कहा है—

'....येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयात्.... ।'

(बृह० ४ । ५ । १५)

'जिससे इन सबको जानता है, उसको किससे जाना जाय? वह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है; आत्मा है; अगृह्य है, ग्रहण नहीं किया जाता; अशीर्य है, घिसता नहीं है; असंग है, आसक्त नहीं होता; असित है, व्यथाको प्राप्त नहीं होता; उसका विनाश नहीं होता। अरे, उस जाननेवालेको किसके द्वारा जाना जाय ?'

जाननेमें आनेवाले सारे (ज्ञेय) पदार्थ बुद्धिके ही कार्य हैं। उस ज्ञेयसे ज्ञान सूक्ष्म और महान् है तथा बुद्धिका कार्य होते हुए भी बुद्धिका स्वरूप ही है। उस ज्ञानसे भी ज्ञाता अनन्त है और वह बुद्धिसे अत्यन्त विलक्षण है। अभिप्राय यह कि ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान व्यापक, श्रेष्ठ, उत्तम, सूक्ष्म, चेतन और अनन्त है। पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—

'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् । '

(४ । ३१)

'क्लेश और कर्मकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्ण आवरणरूप मलके दूर होनेसे ज्ञानकी अनन्तताके ज्ञेय अल्प है।'

तथा ज्ञानकी अपेक्षा आत्मा (ज्ञाता) सूक्ष्म, चेतन, आनन्दरूप, महान् और विलक्षण है। यह जो आत्माका स्वरूप वर्णन किया गया है, इससे भी वह परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। वह जाननेमें नहीं आ सकता, क्योंकि वहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप त्रिपुटी नहीं है। वह प्रापणीय वस्तु है।

आनन्द—

जिस आनन्दको हमलोग आनन्द समझते हैं, वह आनन्द भी वास्तवमें

परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि उससे परमात्माका आनन्दस्वरूप विलक्षण है।

गीतामें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय-आनन्दका अनुभव करता है।'

निद्रा, आलस्य आदिसे उत्पन्न सुख तो तामसी है। उससे तो इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख राजसी होनेसे श्रेष्ठ है। एवं अध्यात्मविषयसे प्राप्त हुआ ध्यानजनित सात्त्विक सुख उससे भी श्रेष्ठ है; किन्तु परमात्माका जो आनन्दमय स्वरूप बतलाया गया है, वह इन सबसे विलक्षण है। निद्रा, आलस्यसे होनेवाले सुखसे तो राजसी सुख इसलिये श्रेष्ठ है कि उसमें तो ज्ञान नहीं रहता और इसमें ज्ञान रहता है। तथा विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न जो राजस सुख है, वह क्षणिक, नाशवान् एवं परिणाममें दुःखका हेतु है तथा सात्त्विक सुख उसकी अपेक्षा स्थायी और परिणाममें अमृत-तुल्य है। इसलिये अध्यात्मविषयक सात्त्विक सुखकी दृष्टिसे राजस सुख भी हेय—त्याज्य है। किन्तु परमात्माके स्वरूपकी दृष्टिसे तो ध्यानजनित अध्यात्मविषयक सात्त्विक सुख भी अपेक्षाकृत निम्न श्रेणीका है। इसलिये उसकी दृष्टिसे यह भी त्याज्य है। गीतामें बतलाया है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

(१४।६)

'हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश

करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् अभिमानसे बाँधता है।'

ध्यानजनित सुख भी देश-कालसे सीमित होने और बुद्धिका विषय होनेके कारण जड, अल्प और अनित्य है।

जाननेवाला चेतन होता है, जाननेमें आनेवाली वस्तु जड होती है। जाननेमें अल्प चीज ही आती है और जो अल्प होती है, वह देश-कालसे सीमित ही होती है; किन्तु वह परमात्मा देश-कालसे रहित है। इसलिये परमात्माका आनन्द स्वरूप इन सबसे विलक्षण है।

उस लौकिक आनन्दका भान उस आनन्दको नहीं होता, उसका जाननेवाला कोई दूसरा ही होता है; किन्तु परमात्माका स्वरूपभूत जो आनन्द है, उसे स्वयं अपने-आपका ज्ञान है, वह दूसरेका विषय नहीं हो सकता, इसलिये वह चेतन है; और वह देश-कालसे अतीत है, इसलिये नित्य है। किन्तु इस प्रकारसे समझे हुए परमात्माके स्वरूपसे भी वह परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है जिसका वर्णन किया गया है, यह भी बुद्धिविशिष्ट परमात्माका ही स्वरूप है। बुद्धि-विशिष्ट परमात्माके स्वरूपको भी सूक्ष्म और शुद्ध हुई बुद्धिद्वारा समझा जा सकता है। इसीको बुद्धिग्राह्य, अतीन्द्रिय कहा है।

भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(६।२१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित वह कभी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

वह जो परमात्माका निर्विशेष स्वरूप है, उसका तो वर्णन विधि या निषेध—किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता; किन्तु फिर भी वेद और शास्त्र

****

जिसे लक्ष्यकर जिसकी व्याख्या करते हैं, उसे ध्येय बनाकर मनुष्य साधन करता है तो शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति वह उस परमात्माको प्राप्त हो जाता है। शाखाचन्द्रन्यायका अभिप्राय यह है कि द्वितीयाका चन्द्रमा किसी एकको दीख गया और दूसरे आदमीको दीखा नहीं। जिसको दीखता है, वह पुरुष दूसरेको एक वृक्षकी शाखाको लक्ष्य बनाकर यों समझाता है कि चन्द्रमा उस वृक्षकी शाखासे ठीक चार अंगुल ऊपर है। एक तीसरे आदमीको समझाता है कि चन्द्रमा उस मकानके कोनेसे सटा हुआ है। असलमें विचार किया जाय तो दोनों ही बातें गलत हैं; किन्तु इस प्रणालीसे उन्हें चन्द्रदर्शन हो जाता है। इसी प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये जितने साधन बतलाये गये हैं और परमात्माका जो स्वरूप बतलाया गया है, उसको लक्ष्य बनाकर साधक पुरुष परमात्माकी प्राप्तिका साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

परमात्माका जो साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त-स्वरूप बतलाया गया है, वह सब ठीक भी है, बेठीक भी। क्योंकि साधु-महात्माओंने, वेद-शास्त्रोंने परमात्माके स्वरूपके विषयमें जो वर्णन किया है, उसको लक्ष्य बनाकर साधन करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये तो वह बतलाना ठीक है। और वास्तवमें शब्दोंके द्वारा जो परमात्माके स्वरूपकी व्याख्या की गयी है, उससे परमात्मा अत्यन्त विलक्षण है; क्योंकि परमात्माके स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता।

अतएव निराकारका ध्यान करनेवाले पुरुषोंको शास्त्रोंमें वर्णित परमात्माके स्वरूपको लक्ष्यकर किसी भी विधिसे तत्परतापूर्वक साधन करना चाहिये, इससे स्वतः वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है।

★

सत्सङ्गके अमृत-कण

भगवान्‌की और महापुरुषोंकी दया अपार है। वह माननेसे ही समझमें आती है। ईश्वरसे कोई जगह खाली नहीं है और महात्माओंका संसारमें अभाव नहीं है। कमी है तो हमारे माननेकी है, वे तो प्राप्त ही हैं। न माननेसे वे प्राप्त भी अप्राप्त हैं। घरमें पारस पड़ा है, परन्तु न माननेसे वह भी अप्राप्त ही है। भगवान्‌की दया और प्रेम अपार हैं। उन्हें न माननेसे अप्राप्त हो रहे हैं, मान लिये जायँ तो प्राप्त ही हैं। किसी दयालु पुरुषसे कहा जाय कि आप हमारे ऊपर दया करें तो इसका मतलब यह होगा कि वह दयालु नहीं है। इसपर वह दयालु पुरुष समझता है कि यह बेचारा भोला है, नहीं तो मुझसे यह कैसे कहता कि दया करो। भगवान् और महापुरुष दोनोंके लक्षणोंमें यह बात आती है कि वे सबके मित्र और सुहृद् होते हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५। २९)

'मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।'

× × ×

वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह प्रत्यक्ष मौजूद है, किन्तु इस प्रकार प्रत्यक्ष होते हुए भी हमारे न माननेके कारण वह अप्राप्त है। सच्चिदानन्दघन परमात्माका कहीं कभी अभाव नहीं है। इस प्रकार न मानना ही अज्ञान है और इस अज्ञानको दूर करनेके लिये प्रयत्न करना ही परम पुरुषार्थ है। हमें इस अज्ञानको ही दूर करना है। इसके सिवा और किसी रूपमें हमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं करनी है। परमात्मा तो नित्य प्राप्त ही है। उस प्राप्त हुए परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है, अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं करनी है, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सबको प्राप्त है। यह दृढ़ निश्चय करना ही परमात्माको प्राप्त करना है। इस प्रकारका निश्चय हो जानेपर

परम शान्ति और परमपदकी प्राप्ति सदाके लिये प्रत्यक्ष हो जाती है। यदि न हो, तो उसकी मान्यतामें कमी है।

इस प्रकारके तत्त्व-रहस्यको बतलानेवाले महात्मा भी संसारमें हैं; किन्तु हैं लाखों-करोड़ोंमें कोई एक। जो हैं; उनका प्राप्त होना दुर्लभ है और प्राप्त होनेपर भी उनका पहचानना कठिन है। उनको जान लेनेपर तो परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि उसके माननेमें ही कमी है।

═══★═══